पण्डितप्रवर आशाधर

[अनेक ग्रन्थोंके निर्माता व कुशल टीकाकार प्रतिभाशाली प्रख्यात विद्वान्
विविध विषयोंमे पारगत, मुनिजनसे भी अभिनन्दित, राजमान्य
और जिनभक्त पं० आशाधरसे सम्बन्धित अनुसन्धानपूर्ण-कृति]

लेखक
पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

ग्रन्थमाला सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य,
सेवा-निवृत्त रीडर जैन-बौद्धदर्शन, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

●

पण्डितप्रवर आशाधर

●

लेखक
पण्डित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

●

ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर'

●

प्रकाशक
मन्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
बी० ३२/१३ बी०, नरिया,
का० हि० वि०, वाराणसी-५

●

प्रथम संस्करण : ५००
१९८८

●

मूल्य दस रुपए

●

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी
(उ० प्र०)

प्रकाशकीय

आज हमें 'पण्डितप्रवर आशाधर' कृतिको प्रकाशित करते हुए बड़ा हर्ष हो रहा है। यह है तो लघुकाय, किन्तु पण्डित आशाधरजीके विषयमें अनुसन्धानपूर्ण विपुल सामग्री इसमें विद्वान् लेखकने प्रस्तुत की है।

इसके लेखक समाजके प्रख्यात मनीषी एवं षट्खण्डागम (धवला-टीका सहित) के अनुवादक-सम्पादक, षट्खण्डागम-परिशीलन (पृ० ९१५) के यशस्वी लेखक, जम्बूद्वीपपण्णत्ती, तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थोके सफल अनुवादक सम्पादक, श्रद्धेय पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री हैं।

इसमें उन्होंने कितनी ही नयी सामग्री दी है, जो शोधकर्त्ताओंके सिवाय सामान्य पाठकोंके लिए भी लाभदायक सिद्ध होगी। वास्तवमें इसमें कालकी परतोंसे आच्छादित पं० आशाधरके व्यक्तित्व और कृतित्वको पूर्णतया उजागर किया गया है।

ऐसी कृतिको प्रस्तुत करनेके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। आशा है पाठक इसे चावसे पढ़ेंगे।

महावीर-निर्वाण, दीपावली
कार्तिक कृष्णा अमावस्या
वी० नि० सं० २५१५
दिनांक ९-११-१९८८,
बीना (म० प्र०)

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मंत्री
वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट

लेखकीय

पण्डितप्रवर आशाधरको लगभग ७०० वर्षसे अधिक हो रहे हैं। उनकी स्मृति मे गत वर्ष महावीरब्रह्मचर्याश्रम कारंजाके विद्वान् धन्यकुमार 'भोरे' ने 'आशाधर-गौरव ग्रन्थ' के प्रकाशनकी एक योजना बनायी थी। इसके लिये उन्होने मुझसे आशाधरके जीवनवृत्त व कृतियों आदिसे सम्बन्धित एक लेखको भेजने की प्रेरणा की थी। तदनुसार मैंने उस सम्बन्धमे कुछ लिखा भी था। इसका कारण यह था कि कुछ समय पूर्व मैंने आशाधरकी एक सुप्रसिद्ध एव महत्त्वपूर्ण कृति सागारधर्मामृतके विषयमे **'सागारधर्मामृतपर इतर श्रावकाचारोंका प्रभाव'** शीर्षक एक लेख लिखा था, जो 'अनेकान्त' (वर्ष २०, किरण ३ व ४में प्रकाशित हुआ था। उसे पढकर स्व० आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारने मुझे काफी प्रोत्साहित किया था।

पर 'भोरे' मा० की वह योजना, जो भी कारण रहा हो, कार्यरूपमें परिणत नही हो सकी। इससे मैंने उस लेखको कुछ परिवर्धित कर एक पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित करानेका विचार किया था।

प्रसन्नताकी बात है कि 'वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट' के मत्री डॉ० दरबारीलाल-जी कोठिया उसे उपयोगी समझ ट्रस्टसे प्रकाशित कर रहे हैं।

स्मरणीय है कि स्व० आचार्य जुगल किशोरजी मुख्तारने अपने महत्त्वपूर्ण अभीष्ट उद्देश्य साहित्य-साधनाकी पूर्तिके लिये 'वीर-सेवा-मन्दिर' जैसी साहित्यिक संस्थाको सरसावा (सहारनपुर) मे स्थापित किया था और उसके संचालनके लिए एक वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टकी भी उन्होंने योजना की थी। संस्थाके दिल्ली आने पर आगे चलकर व परिस्थितिवश अपने निर्धारित मूल रूपमे अवस्थित नही रह सकी और वीर-सेवा-मन्दिर सोसाइटी और वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टमे विभक्त हो गई।

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टमे मुख्तारसा०का जीवनपर्यन्त सम्बन्ध रहा। इस ट्रस्टसे अब तक छोटे-बडे लगभग ३५-४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार स्व० मुख्तारसा० ने सूक्ष्मदृष्टिसे जिसे चुनकर अपना साहित्यिक उत्तरदायित्व सौंपा था, उसका निर्वाह डॉ० कोठियाने संलग्नतापूर्वक परिश्रमके साथ किया है व इस वृद्धावस्थामे भी वे कर रहे है। जिस संस्थाको लगनशील, सुयोग्य निःस्वार्थ कार्यकर्ता प्राप्त होता है वह निश्चित ही प्रगतिशील रहती है।

बालचन्द्र शास्त्री
४-७-८८

३-६-४१५। पहली मजिल
हिमायतनगर, गली नं० ३
हैदराबाद-५०००२९।

विषयानुक्रमणिका

पण्डितप्रवर आशाधर

प्रास्ताविक

विक्रम संवत्की १३वीं शतीमें प्रादुर्भूत पं० आशाधर एक अतिशय प्रतिभाशाली ख्यातिप्राप्त विद्वान् हुए हैं। वे धर्म, न्याय, व्याकरण, काव्य, कोश अलंकार और आयुर्वेद आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें कुशल रहे हैं। उनके असाधारण पाण्डित्यको देख न केवल गृहस्थोंने ही उनके पास अध्ययन किया था, बल्कि गृहवाससे विरत कुछ संयमी जनोंने भी उनके पास यथेष्ट अध्ययन किया था। यही नहीं, उदयसेन मुनिने तो उनकी अनुपम काव्यकुशलतापर मुग्ध होकर उन्हें 'नयविश्वचक्षु' और '**कलिकालिदास**' कहकर तथा '**मदनकीर्ति**' **मुनीन्द्रने** '**प्रज्ञापुंज**' कहकर उनका हार्दिक अभिनन्दन भी किया था (सा० ध० प्रशस्ति ३-४)।

कुल उनका राजमान्य रहा है। स्वयं आशाधरने अपनी प्रशस्तिमे अपने पुत्र छाहडको '**रंजितार्जुन-भूपति**' कहकर यह अभिप्राय प्रगट किया है कि छाहड **अर्जुनवर्मा** राजाका अतिशय स्नेहभाजन रहा है। उनके पिता सल्लक्षणको भी सम्भवतः '**राजा**'की उपाधि प्राप्त थी। **विन्ध्यवर्माके** सन्धि-विग्रहिक मंत्री कवीश विल्हणने, जिसकी जन्मदात्री माताका नाम **सरस्वती** रहा है, 'आशा'से बहिर्भूत आशाधरको यथार्थतः '**सरस्वती-पुत्र**' कहकर अपनी अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया है (सा०ध० प्रशस्ति २-५)।

आशाधर आजीवन सदाचारी गृहस्थ श्रावक ही रहे है, मुनिधर्ममें वे अधिष्ठित नहीं हुए। पर आकर्षण उनका आत्महितकर श्रमणाचारकी ओर रहा है। यह उनके स्वयके इस कथनसे स्पष्ट होता है—

> प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुक. ।
> एष विज्ञापयामि त्वा शरण्यं करुणार्णवम् ॥
> सुखलालसया मोहाद् भ्राम्यन् वहिरितस्तत ।
> सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥
> अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात् किञ्चिदुन्मुखः ।
> अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वा श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥ (जिनस० १-३)

इसके अतिरिक्त उनकी इस भावनासे भी प्रगट है—

> कदा मधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन् ।
> यथालाभेन सन्तुष्ट उत्तिष्ठेत तनुस्थिती ॥ सा० अ० ६-१७.

उनके पूर्व और पश्चात् भी प्राय: उन जैसा अन्य कोई प्रतिष्ठित गृहस्थ विद्वान् नही हुआ। अपवादके रूपमें उनके पूर्ववर्ती धनंजय कवि और पश्चाद्वर्ती पण्डित टोडरमल, जयचन्द्र छावड़ा और सदासुख जैसे विश्रुत विद्वान् कुछ अवश्य हुए हैं, पर उनकी प्रतिभा आशाधरके समान सर्वतोमुखी नही रही।

धनंजय कवि काव्यविषयक एक अभूतपूर्व प्रतिभासे सम्पन्न अवश्य रहे हैं, यह उनके द्वारा ग्रथित अनुपम **द्विसन्धान** काव्यसे सुस्पष्ट है, जिसमे समानरूपसे द्वयर्थक उन्ही पद्यों द्वारा रामचरित और पाण्डवचरितकी कुशलतासे प्ररूपणा की गई है। फिर भी उनकी गति अनेक विषयोमें नही रही। यह उनकी उपलब्ध २-३ कृतियोसे प्रमाणित होता है। हाँ, एक उल्लेखनीय विशेषता उनमे यह अवश्य रही है कि वे निश्चल तत्त्वार्थ-श्रद्धानी सद्गृहस्थ रहे हैं, जिनभक्ति उनकी अपूर्व थी। यह उनके द्वारा रचित **विषापहारस्तोत्र**के अन्तर्गत **"विषापहारं मणिमौषधानि"** (१४) और **"इति स्तुतिं देव विधाय दैन्यात्"** (३८-३९)। जैसे पद्योंसे प्रगट है। समय उनका आठवी शती माना जाता है।

पं० टोडरमल सिद्धान्तके गम्भीर विद्वान् रहे हैं, अन्य दर्शनोका भी उनका विशिष्ट अध्ययन रहा है। यह उनकी मौलिक कृति 'मोक्षमार्ग-प्रकाश'से निश्चित होता है। साथ ह उनके द्वारा जो 'गोम्मटसार' पर 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामकी हिन्दी टीका लिखी गई है वह इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वे गणितके प्रख्यात विद्वान् रहे है जो आशाधरमे सम्भव नही रहा। उनके समक्ष 'कषायप्राभृत' और 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तगन्थ नहीं रहे, अन्यथा उनकी सिद्धान्तविषयक प्रतिभा अधिकाधिक विकसित होनेवाली थी।

इसी प्रकार पं० जयचन्द्र और पं० सदासुख भी धर्म व न्यायके प्रख्यात विद्वान् रहे है।

जन्म, जन्मस्थान और वंश आदि

अगाध विद्वत्ताके धनी आशाधरका जन्म शाकंभरी (समुद्रविशेष-सांभरझील)के भूषणभूत सपादलक्ष देशके अन्तर्गत मण्डलकर[1] (माण्डल-

---

१. शाकंभरी, सपादलक्ष और मण्डल दुर्ग इनकी भौगोलिक विशेष जानकारीके लिये देखिये 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ३५३।

गढ़–मेवाड)मे व्याघ्रेरवाल[1] (बघेरवाल) वंश या जातिमे हुआ था। उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका नाम श्रीरत्नी और पुत्रका नाम छाहड था। पूरा कुटुम्ब ही उनका जैन शासनका भक्त रहा है।

उपर्युक्त सपादलक्ष देशको जब म्लेच्छेश (साहिबुद्दीनतुरुष्कराज—सा० ध० ग्रन्थ-प्रशस्ति ५)ने अपने अधिकारमे कर लिया तब आशाधर समीचीन चारित्रके विनाशकी सम्भावनासे उस सपादलक्ष देशको छोड़ बहुत परिवारके साथ मालव मण्डलके अन्तर्गत धारापुरीमे आकर बस गये थे।

उस समय वहाँ धारापुरीमे विन्ध्य नरेशके शासनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ग सुखपूर्वक रह रहे थे। वहाँ रहते हुए आशाधरने वादिराज-शिष्य पण्डित धरसेनके शिष्य महावीरसे जैन न्याय और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा था।

तत्पश्चात् वे जिनधर्मके उदयार्थ—धर्माराधन, पठन-पाठन और ग्रन्थनिर्माण आदिके द्वारा जैन शासनके प्रभावनार्थ—उस धारापुरीको छोडकर अर्जुनवर्माके शासनमे श्रावक वर्गसे व्याप्त नलकच्छपुर (नालछा) मे जा बसे थे।

नलकच्छपुरमे रहते हुए उन्होने देवचन्द्रको व्याकरण, विशालकीर्तिको प्रमाणशास्त्र (न्याय) और सागरचन्द्रके शिष्य विनयचन्द्र भट्टारकको धर्मशास्त्रमे पारगत किया था। इस प्रकार अतिशयित निपुणताको प्राप्त उनके इन प्रभावशाली विशालकीर्ति आदि शिष्योने अनेक प्रतिवादियोंको परास्तकर उन्हे जिनप्रणीत मोक्षमार्गमे संलग्न किया था[3]।

---

१. 'बघेरा' गाँवसे अन्यत्र जा बसनेके कारण इस जातिको बघेरवाल कहा गया है। इस जातिके लोग मूलमें राजस्थान—कोटाके आसपास रहे हैं। वर्तमानमें कुछ कुटुम्ब ५००-६०० वर्ष पूर्व महाराष्ट्रमें भी आकर बस गये हैं। इससे उनकी भाषा व संस्कृतिमें परिवर्तन हुआ है। उनमें अधिकाश कुटुम्ब सम्पन्न हैं—देखिये 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ३४४ का टिप्पण अथवा 'वीरवाणी' वर्ष ६, अंक १९में प्रकाशित 'बघेराकी प्राचीन मूर्तियाँ' शीर्षक लेख।

२. सा० ध०, प्रशस्ति १, २ व ५।

३. वही ९

साहित्य सेवा

प्रज्ञापुत्र पं० आशाधरने वहाँ नलकच्छपुरमे निवास करते हुए जहाँ 'धर्मामृत' आदि जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थोकी रचना की है वहीं उन्होंने अपने ही कुछ दुरवबोध ग्रन्थों पर तथा अन्य भी कितने ही ग्रन्थों पर विवरणात्मक टीका भी लिखी है । जैसे —

(१) **प्रमेय-रत्नाकर**—यह उनका एक महत्त्वपूर्ण न्यायग्रन्थ रहा है, जिसमे स्याद्वादविद्याको विशद किया गया है। वर्तमानमें वह उपलब्ध नहीं है[1] ।

(२) **भरतेश्वराभ्युदयकाव्य**—यह एक उत्कृष्ट काव्यग्रन्थ रहा है, जिसे आशाधरने आत्मकल्याणके लिए रचा है। इसमे प्रत्येक सर्गके अन्तिम पद्यमे चिह्नस्वरूप 'सिद्धि' शब्दको अंकित किया गया है । यह भी वर्तमानमे अनुपलब्ध है[2] ।

(३) **जिनागमके निर्यासभूत धर्मामृत**—यह भव्यकुमुदचन्द्रिका नामकी स्वोपज्ञ टीकासे अलंकृत अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत इन दो भागोमे विभक्त है।

(क) उनमे—**अनगारधर्मामृत** नौ अध्यायोंमें विभक्त है। इसमें अनगारधर्म (मुनिचर्या)की विशदतापूर्वक विस्तारमे प्ररूपणा की गई है।

(ख) **सागारधर्मामृत** आठ अध्यायोमे विभक्त है । इसमे अनेक श्रावकाचारग्रन्थोके अध्ययनपूर्वक श्रावकधर्मका विस्तारमे वर्णन किया गया है। ये दोनों ग्रन्थ उपर्युक्त टीकाके साथ मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुके है।

(ग) **ज्ञानदीपिका-पंजिका**—पं० आशाधरके द्वारा उक्त धर्मामृत ग्रन्थके ऊपर विशद व्याख्यास्वरूप एक विस्तृत **'ज्ञानदीपिका'** नामकी पंजिका भी लिखी गई है। इसकी एक ही प्रति कोल्हापुरके जैन मठमे रही है, पर वह शायद अग्निमे भस्मसात् हो गई है। इसका उल्लेख स्वयं आशाधरने सागारधर्मामृतकी 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' टीकाके प्रारम्भमे इस प्रकार किया है—

समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात् क्वचित् ।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥

---

१. सा० ध०, प्रशस्ति १० ।

२. वही ११ ।

इसी प्रकारका दूसरा उल्लेख आगे इसी सागारधर्मामृतमें श्लोक १-११ की टीकामें भी किया गया है—

एषा संक्षेपतो व्याख्याऽत्र कृता, विस्तरता धर्मामृतपञ्जिकायां कृता। सा सर्वत्र दृष्टव्या[१]।

(४.) **वाग्भट-संहिता**—आयुर्वेदके विद्वानोंको अभीष्ट इस ग्रन्थपर आशाधरके द्वारा '**अष्टांगहृदयोद्योत**' नामक टीका लिखी गई है। यह भी उपलब्ध नहीं है[२]।

(५-९) **मूलाराधना** (भगवती आराधना), इष्टोपदेश, भूपालचतुर्विशतिस्तव, आराधनासार और अमरकोश इन पांच ग्रन्थों पर आशाधरके द्वारा टीका लिखी गई है[३]। इनमें भ० आ० को वह आशाधर विरचित 'मूलाराधनादर्पण' टीका, अपराजित सूरि विरचित 'विजयोदया' आदि कुछ अन्य टीकाओंके साथ 'बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसायटी', कारंजासे प्रकाशित है। इष्टोपदेशकी टीका मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे, 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' मे आराधनासारकी विशेषपदोंको व्याख्या स्वरूप वह टीका आ० शिवसागर ग्रन्थमाला श्रीमहावीरजी द्वारा और भूपालचतुर्विशतिस्तवकी टीका श्रीकुन्दनलालजी जैन बम्बई द्वारा 'पंच-स्तोत्र' मे प्रकाशित है। अमरकोशकी टीका उपलब्ध नहीं है।

(१०) **क्रियाकलाप**—इसकी एक प्रति **पन्नालाल** सरस्वतीभवन बम्बई (वर्तमान उज्जैन) मे है[४]।

(११) रुद्रटाचार्यकृत **काव्यालंकारकी** टीका—यह भी वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है[५]।

(१२) **सहस्रनामस्तवन**—यह स्वोपज्ञ टीकाके साथ भारतीय ज्ञानपीठ-से प्रकाशित है।

(१३) **त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र**—यह आ० जिनसेन विरचित 'महापुराण'

---

१. इसी प्रकारके अन्य उल्लेख भी सा० ध० की टीकामे आगे श्लोक २-२१ आदिमें देखे जा सकते हैं।

२. सा० ध० प्रशस्ति १२ व अन० ध० प्रशस्ति १९

३. सा० ध० प्रशस्ति १३ व अन० ध० प्रशस्ति १४.

४. सा० ध० प्रशस्ति १४ व अन० ध० प्रशस्ति १५.

५. सा० ध० प्रशस्ति १५ व अन० ध प्रशस्ति १६.

से उद्धृत त्रिषष्ठिशलाकापुरुषविषयक संक्षिप्त शास्त्र है, जो स्वो० टीका-से सहित रहा है। वह मा० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित है।

(१४) **जिनयज्ञकल्प**-यह स्वोपज्ञ **कल्पदीपिका** नामकी टीकासे सहित एक जिनप्रतिष्ठाशास्त्र है। इसकी प्रति जयपुरमे बतायी जाती है[1]।

(१५) **अर्हन्महाभिषेकार्चाविधि**--यह उपलब्ध नही है[2]।

(१६) **नित्यमहोद्योत**--यह वनजीलाल जैन ग्रन्थमालासे श्रुतसागर-विरचित टीकाके साथ अभिषेकसग्रहमे प्रकाशित है।

(१७) **राजमतीविप्रलम्भ**—यह खण्डकाव्य स्वोपज्ञ टीकासे सहित नेमिजिनके आश्रयमे लिखा गया है। यह वर्तमानमे उपलब्ध नही है[3]।

(१८) **अध्यात्मरहस्य**—इसका दूसरा नाम **योगोद्दीपन** भी है। ७२ श्लोको प्रमाण यह 'जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था' श्रीमहावीरसे आशाधरकी कुछ अन्य छोटी कृतियोंके साथ एक छोटी पुस्तिकामे प्रकाशित है। उसे आशाधरने अपने पिताके आदेशसे लिखा है[4]।

(१९) **रत्नत्रयविधान**—इसकी प्रति पन्नालाल सरस्वतीभवन उज्जैन मे है[5]।

---

१ जिनयज्ञ कल्पकी प्रति, जो जयपुरमे है, उसके अन्तमे 'इत्याशाधर दृब्धे जिनयज्ञकल्पनिबन्धे कल्पदीपिकानाम्नि षष्ठोऽध्याय' यह सूचना की गई है। (जैन सा० और इतिहास पृ० ३४६, टि० ८ के अनुसार)।

२ सा० ध० प्रशस्ति १६ व अन० ध० प्रशस्ति १७ (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४६, टिप्पण न० १० द्रष्टव्य है)

३ अन० ध० प्रशस्ति १२ (यह सम्भवत सा० ध० की टीका (वि० संवत् १२९६) के बाद लिखा गया गया है, यह स्मरणीय है कि अन० ध० टीका वि० संवत् १३०० में रची गई है।

४. अ० ध० प्रशस्ति १३ (यह भी सा० ध० की टीका लिखने के बाद लिखा गया है)।

५. सा० ध० प्रशस्ति १७ व अन० ध० प्रशस्ति १८, इस अन० ध० प्रशस्तिपद्य (१८) के आगे 'जिनयज्ञकल्प' मे कुछ अतिरिक्त पद्य पाये जाते है। जिज्ञासु जन उन्हे 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ३५६, टिप्पण न० ३ में देख सकते है।

उपर्युक्त सब ही ग्रन्थो व विविध टीकाओंको विबुध आशाधरने नलकच्छपुरमे रहते हुए नेमिचैत्यालयमे अवस्थित होकर रचा है।

ग्रन्थप्रशस्ति उनकी प्रमुखतासे जिनयज्ञकल्प (वि० सं० १९८५), सागारधर्मामृत (१२९६) और अनगारधर्मामृत (१३००) की टीकाओंमें उपलब्ध होती है।

आशाधरके द्वारा उपयुक्त साहित्य

पण्डित आशाधरके समक्ष जो पूर्ववर्ती विशाल साहित्य रहा है उसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थ तो रहे ही हैं। साथ ही इतर सम्प्रदायके भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहे हैं, जिनका गम्भीर अध्ययन करके उन्होंने अपने ग्रन्थों और टीकाओकी रचनामे समुचित उपयोग किया है। यही नही, जैसा कि ऊपर कहा जा चूका है, उन्होने काव्यालकार, अमरकोश और वाग्भट-सहिता जैसे अन्य ग्रन्थापर टीका भी की है। अपनी ग्रन्य-रचनामे उन्होंने जिन ग्रन्थोका उपयोग किया है। उनमे कुछ इस प्रकार हैं—

आ० कुन्दकुन्द विरचित ग्रन्थ

सुप्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द एक बहुश्रुत एवं आध्यात्मिक श्रमण हुए हैं। उनका समय प्राय. प्रथम शताब्दि माना जाता है। दूसरा नाम उनका **पद्मनन्दी** भी रहा है, जो दीक्षाकालीन सम्भव है। **कोण्डकुण्ड** ग्राममें रहनेके कारण वे **कुन्दकुन्द** नामसे प्रसिद्ध हुए प्रतीत होते हैं। वे श्रमणाचार—मूलगुण व महाव्रत आदि अनगारधर्म—का निरतिचार परिपालन कठोरतासे करते रहे है। दिगम्बरत्वके वे प्रबल समर्थक थे, यह उनके ग्रन्थोंसे सिद्ध है[1]। उन्होने हीनाचारी श्रमणकी प्रसगानुसार जहां तहां निन्दा भी की है[2]। उनकी ग्रन्थरचना प्रमुखतासे निश्चय व व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोपर आधारित रही है। वे एकान्तवादी व कदाग्रही नही रहे। उन्होने पंचास्तिकाय[3] और प्रवचनसारमें[4]

१. ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होई तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ बोधप्राभृत २३।

२. जह जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥ बोधप्राभृत १८।

३. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ पंचा० १४।

४. अत्थि त्ति णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ प्रव० सा० २-२३।

स्याद्वादकी आधारभूत 'सप्तभंगी' का समर्थन किया है। इससे उनकी अनेकान्तवादपर निष्ठा निश्चित है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने लोकहितैषितासे प्रेरित होकर अप्रबुद्ध मुमुक्षु जीवोंके प्रबोधनार्थ यथा-योग्य प्रथमतः छह द्रव्यो, सात तत्त्वों और नौ पदार्थोकी तथा व्यवहार चारित्र या संयमकी प्ररूपणा की है। यह सब करते हुए भी उन्होंने जहां तहां प्रसंगानुसार यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृत कथन व्यवहारकी प्रधानतासे किया जा रहा है, जो तत्त्वावबोधके लिये आवश्यक है। किन्तु मुमुक्षुका लक्ष्य निर्बाध शाश्वतिक (अविनश्वर) सुखकी ओर रहना चाहिये। वह सर्वथा राग-द्वेषसे मुक्त हो जाने पर ही सम्भव है[1]। इसके लिये अशुभोपयोगको तो सर्वदा छोडना ही चाहिये, साथ ही यथावसर स्वर्गीय सुखके कारणभूत पुण्यबन्धक अरहन्तभक्ति आदिरूप शुभोपयोगका भी परित्याग कर देना आवश्यक है, क्योंकि मोक्षसुखकी प्राप्तिमे वह भी बाधक रहता है। मोक्षसुख तो शुद्धोपयोगपर निर्भर है। इस प्रकार प्रबुद्ध-अप्रबुद्ध जीवोंका विचार करते हुए उन्होने तदनुरूप ही तत्त्वका व्याख्यान किया है।

आ० कुन्दकुन्दने जिन प्रचुर ग्रन्थोकी रचना की है, उनमे बहुतसे प्रकाशित भी हो चुके है। आशाधरने अपने 'धर्मामृत' आदि ग्रन्थों व उनकी स्वोपज्ञ टीकाओंकी रचनामे जिनका उपयोग किया है उनमे कुछ इस प्रकार है –

पचास्तिकाय—आ० कुन्दकुन्द द्वारा इसमे प्रथमतः कालको छोड़ विशेषरूपसे जीव-पुद्गलादि पाच अस्तिकाय द्रव्योका विचार किया गया है। उन पांच अस्तिकायोका प्ररूपक होनेसे उसका 'पचास्तिकाय' यह सार्थक नाम रहा है। आगे यथाप्रसंग उन्होने छटे काल द्रव्यका भी विवेचन किया है। यह पहले कहा जा चुका है कि आ० कुन्दकुन्दने जो तत्त्वका विचार किया है वह यथाप्रसंग निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोमे एक किसीको प्रधान और दूसरेको गौण रखकर किया है, उपेक्षा

---

१. उदाहरणके रूपमें पचास्तिकायकी यह गाथा द्रष्टव्य है—
एवं पवयणसारं पंचत्थियसगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि राय-दोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ १०३ ।

२. देखिये, प्रव० सा० गाथा १, ११-१४ तथा भाग ३, ४५-५०,

किसी को नहीं की है[1]। उनके प्रबल समर्थक व भक्त अमृतचन्द्र सूरिने उनके उपर्युक्त अभिप्रायको इस प्रकार व्यक्त किया है—

व्यवहरणनयः स्याद् यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतामेष किञ्चित् ॥ स० कलश ५.

अभिप्राय यह है कि जो भव्य भद्र मिथ्यादृष्टि आत्म-परके विवेकमें कुशल नही हैं, तत्त्वावबोधकी पूर्व अवस्थामे स्थित हैं उनके लिये वह व्यवहारनय हाथका आलम्बन देनेके समान तत्त्वावबोधकी उस उपरिम अवस्थामे प्रतिष्ठित करनेवाला है, अतः वह उनके लिये तभी तक उपयोगी है। तत्पश्चात् जब वे शरीर व कर्म आदि परद्रव्योसे आत्माकी भिन्नता-का अनुभव करने लगते हैं तब वह उनके लिये कुछ भी नही रहता है-अकिंचित्कर हो जाता है। यही निमित्तकी अकिंचित्करताका अभिप्राय है। आत्महितेच्छुको इस वस्तुस्थितिका समझ लेना चाहिये।

आशाधरने अपने धर्मामृतकी स्वो० टीकामे प्रस्तुत पचास्तिकायके अन्तर्गत इन गाथाओको प्रसंगके अनुसार उद्धृत किया है—

१ अन० ध० श्लोक १-१ की टीकामे—
(क) सपयत्थं तित्थयरं (पंचा० गा० १७०.)
(ख) तम्हा णिव्वुदिकामो (पंचा० १७२)
श्लोक १-१२—जेण वियाणदि अप्पा (प० १६३)
,, १-९१—णिच्छयणएण भणिओ (पंचा० १६१ ज्ञानदी०)
,, २-२३—जावोत्ति हवदि चेदा (गा० २७—ज्ञानदीपिका)
,, २-३६—अत्ता कुणदि सहावं (गा० ६५)
,, २-३८—जोगणिमित्तं गहणं (गा० १४८)
,, ४-२२—अंडेसु पवड्ढंता (गा० ११३)

---

१ आ० समन्तभद्रने इन नयोकी स्वपरोपकारकताको इसरूपमें अभिव्यक्त किया है—
य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ।
—स्वयम्भू: ६.१.
(आगेका श्लोक १०१ व ११८ भी द्रष्टव्य है)

२ **प्रवचनसार**—यह ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन और चरित्र-प्रज्ञापन इन तीन अधिकारोमें विभक्त है। नामके अनुसार ही उनमे विषयका विवेचन किया गया है। आशाधरने उससे प्रसंगके अनुसार 'धर्मामृत' की टीकामे इन गाथाओंको उद्धृत किया है—

श्लोक १-६ सपरं बाधासहिदं (प्र० सा० १-७६)
,, १-९९ वेज्जावच्चणिमित्तं (प्र० सा० ३ ५३)
,, ३-१७ जं अण्णाणी कम्मं (प्र० सा० ३-३८)
,, ४-२३ मरदु व जियदु वा (३-१७ मरदु व जियदु)
,, ४-१७१ **अयदाचारो समणो** (गा० ३-१८)
,, ४-१७६ **जहजादरूवजादं** (इत्यादि गा० ३, ५-९)

यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि आशाधरने इन "जहजादरूवजाद" आदि तीन गाथाओको ' **'यथोक्तं प्रवचनसारचूलिकायाम्'** इस सूचनाके साथ उदधृत किया है।

३ **समयसार**—अन० ध० श्लोक ८-६३ को स्वो० टीकामे प्रसगके अनुसार '**समयसार**'मे भो ऐसा ही कहा है' यह सूचना करते हुए समय-सारकी दो गाथाओंको उद्धृत किया है। उनमे प्रथम गाथा इसप्रकार है—

कम्म जं पुव्वकय सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
त दोसं जो चेयह सो खलु आलोयण चेया॥

यह गाथा समयसारके अनुसार गा० ३८३ के पूवार्ध और आगे गा० ३८५के उत्तरार्धसे युक्त है। दूसरी गा० "णिच्चं पच्चक्खाण" आदि समयसारमे गाथा ३८६के रूपमे उपलब्ध होती है।

४ **नियमसार**—यहाँ आ० कुन्दकुन्दने सर्वप्रथम वीर जिनको नमस्कार करते हुए केवलि-श्रुतकेवलिकथित नियमसारके कथनकी प्रतिज्ञा की है। तत्पश्चात् ग्रन्थनामके अन्तर्गत 'नियम'के स्वरूपको स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है कि जो कार्य नियमसे करणीय है उसका नाम नियम है और वह नियमसे करणीय कार्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है। ग्रन्थनाम (नियमसार) मे जो 'सार' शब्द का उपयोग किया है वह विपरीतताके निराकरणार्थ किया है। तदनुसार उन्होने मोक्षके उपायको नियम और उसके फलको परम निर्वाण बतलाते हुए यह कहा है कि इन्हीं तीनमे प्रत्येकको प्ररूपणा यहाँ की जानेवाली है।

कृत प्रतिज्ञाके अनुसार आगे (गा० ५) सम्यक्त्वके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है कि आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानसे सम्यक्त्व

होता है। इनमे समस्त गुणोस्वरूप आप्त वह है जो क्षुधा-तृषादि दोषोंसे रहित होता हुआ केवलज्ञानादिरूप वैभवसे युक्त होकर परमात्मा स्वरूप है।

प्रसंगके अनुसार आगे (गा० ८) अनेक गुण-पर्यायोंसे युक्त जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनको तत्त्वार्थ कहा गया है।

इसप्रकार नियमसारमे यथायोग्य व्यवहार और निश्चयकी विवक्षासे जो तत्त्वका विचार किया गया है वह मुमुक्षुजनके लिये मननीय है।

कर्मसे विमुक्त हुआ जीव लोकशिखर पर्यन्त ही क्यो जाता है और आगे क्यो नही जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्यने यह कहा है कि जीव और पुद्गलोका गमन वही तक जानना चाहिये, जहाँतक धर्मास्तिकाय है, उस धर्मास्तिकायके अभावमे वह कर्मविमुक्त आत्मा उसके आगे नही जाता है (गा० १८१-८३)।

कुन्दकुन्दका यह स्पष्ट अभिप्राय उन विद्वानोंके लिये विशेष ध्यातव्य होना चाहिये जो, निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर कहते हैं कि मुक्त जीवकी वही तक जानेकी योग्यता है। यदि सर्वथा योग्यतापर ही वह निर्भर होता तो धर्मद्रव्यका उल्लेख भी निरर्थक रहता।

अन्तमे उपसहार करते हुए आ० कुन्दकुन्दने अपना यह अभिप्राय प्रगट किया है कि मैंने प्रवचनकी भक्ति वश नियम और उसके फलका निर्देश किया है। यदि इसमे कही पूर्वापर विरोध दिखे तो आगमके ज्ञाता उसे दूर करके पूर्ण कर लें। यदि कोई ईर्षाके वश होकर इस सुन्दर मार्गकी निन्दा करते हैं तो उनके कथनको सुनकर उसके विषयमे अविनय या अविश्वास न करे। अपनी भावनाके निमित्त मैंने पूर्वापर दोषसे रहित जिन भगवानके उपदेशको जानकर इस 'नियमसार' नामक शास्त्रको रचा है (गा० १८४-८६)। कुन्दकुन्दका यह निश्छल विवेचन उनके विशाल अन्त करणकी उज्ज्वलताका परिचायक है।

आशाधरने अन० ध० श्लोक १-१ की स्वो० टीकामे इस नियमसारकी **"एको[गो]मे सासदो अप्पा"** इस गाथा (१०२)को उद्धृत किया है। इसके आगे वहाँ **"संजोगमूलं जीवेण"** आदि एक अन्य गाथा भी उद्धृत की गई है। ये दो गाथाएँ मूलाचारमे गाथांक ४८-४९के रूपमे उपलब्ध होती हैं। पर उपलब्ध पाठभेद उसका नियमसारके अनुरूप

वहाँ रहा है। इसके अतिरिक्त वही गाथा भावप्राभृत (५९) में भी उपलब्ध होती है।

(५-६, ७) इसी प्रकार आ० कुन्दकुन्दविरचित **बोधप्राभृत, भावप्राभृत** और **द्वादशानुप्रेक्षासे** भी अन० ध० की टीकामें उद्धृत एक-एक गाथा देखी जाती है। यथा—

श्लोक ४-२२ मे "**पचवि इंदियपाणा**" (बोध प्रा० ३४)।

श्लोक १-१ मे उक्त गाथा "**एको मे सासदो अप्पा**" (भा० प्रा०५९)

श्लोक २-६४ '**किं पलविएण बहुणा**' (द्वादशानु० ९०)

साहजिक दृष्टिसे ये गाथायें उन ग्रन्थोमे उपलब्ध हुई हैं, विशेषरूपमें खोजने पर ऐसे अन्य भी अनेक प्रसग प्राप्त हो सकते है।

८ **षट्खण्डागम**—आ० पुष्पदन्त और भूतबलि विरचित यह एक जीवस्थान और कर्मका प्ररूपक प्राचीनतम सिद्धान्तग्रन्थ है। रचनाकाल प्राय प्रथम शताब्दि है, पर कुन्दकुन्दसे पूर्ववर्तित्व सम्भव है। वह विशाल धवला टीकाके साथ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालयसे १६ भागोमे प्रकाशित हो चुका है।

उसमे पाँचवे वर्गणा खण्डके अन्तर्गत कर्मानुयोगद्वारमे दस प्रकारके कर्मकी प्ररूपणा की गई है। उनमे नौवा क्रियाकर्म (कृतिकर्म) है। उसके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए वहाँ यह सूत्र आया है—

तमादाहीण पदाहिणं तिक्खुत्त तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्म णाम। सूत्र ५ ४, २८ (पु० १३, पृ० ८८)।

अन० ध० श्लोक ९-१४ मे निर्दिष्ट इस कृतिकर्मके प्रसंगमे उसकी स्वो० टीकामे उसे स्पष्ट करते हुए '**यथोक्तं सिद्धान्ते**' ऐसी सूचना पूर्वक उपर्युक्त सूत्रको इस रूपमे 'उद्धृत' किया गया है—

आदाहीण पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊ (ओ) णदं चतुस्सिरं बारसवत्तं चेदि।

इसके आश्रयसे वहाँ क्रियाकर्म या कृतिकर्मके ये छह भेद प्रगट किये गये हैं—आत्माधीन, प्रदक्षिण, त्रिःकृत्वा (तीन बार), तीन अवनतियाँ, चार शिर (प्रणाम-नमस्कार) और बारह आवर्त।

उक्त षट्खण्डागम 'सिद्धान्त वसति' मूडबिद्रीमे जिस प्रकारसे सुरक्षित रहा है उसे देखते हुए वह आशाधरके समक्ष रहा है, यह सन्देहापन्न अवश्य है। फिर भी परम्पराश्रुतिसे उपर्युक्त सूत्र उनकी स्मृतिमे रह सकता है। सूत्र वह निश्चित ही षट्खण्डागमका है।

९. धवला—उक्त षट्खण्डागमकी टीका—यह आ० वीरसेन द्वारा विरचित उक्त षट्ख० की महत्त्वपूर्ण एक विस्तृत टीका है। रचना-काल उसका नौवी शताब्दि है। ष० ख० के समान उसका भी आशाधरके समक्ष रहना सन्देहके परे नही है। पर उसकी जानकारी उन्हें अवश्य रही दिखती है। इस धवलासे अन०ध० का सम्बन्ध कुछ इसप्रकार रहा है—

(१) अन० ध० श्लोक ४-१७१मे यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि समितियोके पालनमे सावधान साधुके निमित्तसे यदि अज्ञातभावसे जीवहिंसा भी होती है तो वह उस हिंसाजनित पापसे लिप्त नही होता है। पर इसके विपरीत जो असावधानीसे प्रवृत्ति करता है वह जीवघातके न होनेपर भी कर्मसे सम्बद्ध होता है[1]। इसी प्रसगमे उसकी स्वो० टीकामे यह एक शंका उपस्थित हुई है कि संयम और विरति इनमे क्या भेद है? उसका समाधान वहाँ उक्त शंकाके साथ इसप्रकार किया गया है—

संयम-विरईणं को भेदो? ससमिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संयमो, विणा महव्वयाणुव्वयाइ विरदी।

उक्त शका-समाधान प्रसगके अनुरूप ठीक उसी प्रकारसे धवलामें उपलब्ध होता है—

संजम-विरईण को भेदो? ससमिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमो, समिईहि विणा महव्वयाणुव्वया विरई। ष० ख० सूत्र ५, ६, १५ (पु० १४, पृ० १२)।

(२) इसी प्रकारका एक प्रसग सा० ध० श्लोक ५-५५की स्वो० टीकामे भी उपलब्ध होता है। यथा—

अणुव्रत-महाव्रतानि हि 'समितिसहितानि संयमस्तद्रहितानि विरतिरिति सिद्धान्तः। तदुक्तम्—**अणुव्वय-महव्वयाइं समिदीसहियाणि संजमो, समिदीहि विणा विरदि** (ष० ख० पु० १४, पृ० १२) इति।

१० भगवती आराधना—शिवार्य (सम्भवतः प्रथम-द्वितीय शताब्दी) विरचित यह एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंकी विस्तारपूर्वक विशद प्ररूपणा की गई है। इसीलिए उसका 'भगवती आराधना' यह सार्थक नाम समझना चाहिये। प्रसंगप्राप्त उसमें आवीचीमरण आदि १७ मरणभेदोंमे

---

१. मरदु वा जियदु वा जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु॥ प्रव० सा० ३-१७

प्रयोजनीभूत होनेसे, पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण इन पाँच मरणोंको प्रमुख स्थान देकर उनका विशेष रूपसे वर्णन किया गया है। इसी प्रसंगमे वहाँ समाधि-मरणका विवेचन बहुत विस्तारसे किया गया है।

अन्तमे ग्रन्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार अपनी यह आन्तरिक भावना प्रगट करते हैं कि मैने भक्तिके वश भगवती आराधनाका वर्णन किया है, वह संघके साथ **शिवार्य**को उत्तम समाधि प्रदान करे। यह अपराजितसूरिकी 'विजयोदया' टीका, पण्डित आशाधर विरचित 'मूला-राधनादर्पण' टीका आदि और पं० सदासुखकी हिन्दी टीका आदिके साथ 'बलात्कारगणपब्लिकेशन सोसायटी कारजा'से प्रकाशित हुआ है। उसके अतिरिक्त और भी उसके २-१ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आशाधरने प्रसगानुरूप उसकी कुछ गाथाओको अपने 'धर्मामृत' ग्रन्थमे उद्धृत किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक २-६९ की टीकामे "**णिग्गंथं पावयणं**" आदि (गा० ४३)

(२) अन० ध० २-८४ की टीकामें—"**एतेन सम्मत्तादीचारा संका कंखा**" इत्याराधनोक्ता (गा० ४४)।

(३) श्लोक २-१०३की टीकामे—तथा आराधनाशास्त्रम् "**उवगूहण-ठिदिकरणं**" (गा० ४५)।

(४) श्लोक २-११० की टीकामे "**अरहंत-सिद्ध-चेदिय**" (गा० ४६)।

(५) वही पर "**भत्तीपूयावण्णजणणं**" (गा० ४०)।

(६) श्लोक २-११३ "**उज्जोवणमुज्जवणं**" (गा० २)।

(७) श्लोक ४-२४ तथा चाभाणि "**जइ सुद्धस्स वि बंधो**" (गा० ८०)

(८) श्लोक ४-२७ तथा चोक्तम् "**रत्तो वा दुट्ठो वा**" (गा० ८०२)।

११ **मूलाचार**—वट्टकेराचार्य विरचित 'मूलाचार' यह एक श्रमणा-चारका प्ररूपक उत्कृष्ट प्राचीन ग्रन्थ है। प्रमुखरूपमे साध्वाचारका प्ररूपक होते हुए भी उसके अन्तिम (१२वे) 'पर्याप्ति' अधिकारमे अनेक सैद्धान्तिक विषयोका भी व्यवस्थित रूपमे क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। आचारविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होनेसे प्रसंगवश धवलाकारने उसका उल्लेख '**आचारांग**'के रूपमे किया है (पु० ४, पृ० ३१६)। '**तिलोय-पण्णत्ती**'मे '**मूलायारे इरिया**' ऐसी सूचना करते हुए सम्भवतः इसी मूलाचारकी ओर संकेत किया गया है। वहाँ देवियोकी आयुविषयक जिस

मतभेदका उल्लेख किया गया है (भा० २, गा० ८-५३२) वह यथाप्रसंग उसी रूपमें प्रकृत मूलाचारमें उपलब्ध होता है (गा० १२-८०)।

वह वसुनन्दी विरचित आचारवृत्तिके साथ दो भागोंमें मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका है। वही अभी कुछ समय पूर्व उक्त आचारवृत्ति और हिन्दी अनुवादके साथ भारतीय ज्ञानपीठके द्वारा दो भागोंमे प्रकाशित किया गया है। श्रमणाचारविषयक इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके जैसे शुद्ध प्रामाणिक संस्करणकी अपेक्षा थी वैसा शुद्ध संस्करण अभी उसका नहीं दिख रहा है।[1]

आशाधरने अपने 'अनगारधर्मामृत'की स्वो० टीकामे उसकी प्रचुर गाथाओंको उद्धृत किया है। वैसे तो वह समस्त ग्रन्थ ही प्रकृत मूलाचारपर विशेष रूपमे आधारित रहा है। इसके लिये यहाँ उसके कुछ प्रसंग प्रस्तुत किये जाते हैं--

(१) अन० ध० श्लोक १-१ की टीकामे "**एको (गो) मे सासदो अप्पा**" (गा० ४८)।

(२) इस श्लोकमे "**संजोगमूला जीवेण**" (गा० ४९)।

(३) श्लोक २-३८ "**जोगणिमित्तं गहणं**" (गा० ९६७)।

(४) श्लोक ४-२२ **एगणिगोदसरीरे** (गा० १२०६)।

विशेष रूपमे उसकी बहुतसी गाथायें छठे, आठवें और नौवें अधिकारमे देखी जाती हैं।

१२ तत्त्वार्थसूत्र—आचार्य उमास्वाति विरचित यह अर्थबहुल सूत्र-ग्रन्थ अपने नामके अनुसार मोक्षप्राप्तिमे प्रयोजनीभूत तत्त्वार्थो—यथार्थ स्वरूपसे संयुक्त जीव-अजीव आदि सात तत्त्वोंका प्ररूपक सूत्रग्रन्थ है। संस्कृतमे रचित इसे आद्य सूत्रग्रन्थ समझना चाहिये। आशाधरने अपने धर्मामृतकी टीकामें प्रसंगके अनुसार उसके कुछ सूत्रोंको उद्धृत किया है। उसे उद्धृत करते हुए कहीं ग्रन्थ और ग्रन्थकारके नामका भी निर्देश कर दिया गया है। जैसे—

(१) अन० ध० श्लोक १-१ की टीकामें प्रसंगके अनुसार सूत्रकार उमास्वातिके नाम निर्देशपूर्वक तत्त्वार्थसूत्रके इस सूत्रको उद्धृत किया है—**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**। १-२

---

१. देखिये, अनेकान्त वर्ष ४०, किरण १-२ (जनवरी-मार्च और अप्रेल-जून) में प्रकाशित 'मूलाचार व उसकी आचारवृत्ति' शीर्षक लेख।

(२) अन० ध० श्लोक २-४४ की टीकामें "**बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**" इस सूत्रको उद्धृत किया गया है। सूत्र १०-२.

(३) सा० ध० श्लोक ४-५८ की स्वो० टीकामे ब्रह्मचर्याणुव्रतातिचारोंके प्रसंगमें '**तत्त्वार्थशास्त्र**' के नाम निर्देशपूर्वक उसमे निर्दिष्ट अतिचारोंके संग्रहार्थ यह कहा गया है—एतेनेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनलक्षणातिचारद्वयं **तत्त्वार्थशास्त्रोद्दिष्टमपि** संगृहीतं भवति। सूत्र ७-२८.

(४) सा० ध० श्लोक ४-६४ की टीकामे परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके अतिचारोंको स्पष्ट करते हुए 'एते च क्षेत्र-वास्तु कुप्यप्रमाणातिक्रमाः' इति **तत्त्वार्थमतेन** पञ्चातिचाराः प्रपञ्चिताः। त० सूत्र ७-२७

(५) तत्त्वार्थसूत्रमे अतिथिसविभागव्रतके प्रसंगमे यह सूत्र प्राप्त हुआ है—**विधि-द्रव्य दातृ-पात्र-विशेषात् तद्विशेषः**। सूत्र ७-३९.

सा० ध० के अन्तर्गत यह श्लोक उससे पूर्णतया प्रभावित है—

व्रतमतिथिसविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय॥ ५-४१.

१३ **रत्नकरण्डक**—समन्तभद्राचार्य विरचित—इसमे संक्षेपसे समस्त श्रावकाचारको सर्वांगपूर्ण विशद प्ररूपणा की गई है। उसे आद्य श्रावकाचार ग्रन्थ समझना चाहिये। इसमे रत्नत्रयस्वरूप सम्यग्दर्शन (४-४१), सम्यग्ज्ञान (४२-४५) और सम्यक्चारित्र (४६-१२१) इन तीनकी व्यवस्थित प्ररूपणा की गई है। इसीलिये इसका '**रत्नकरण्डक**'—रत्नोका डिब्बा—यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ है।

रत्नत्रयके पश्चात् उसमे प्रसगके अनुरूप होनेसे सल्लेखना या समाधिमरण (१२२-२९), उस सल्लेखनाके फलस्वरूप मोक्ष (१२६-३५) और तत्पश्चात् दार्शनिक आदि श्रावकके ग्यारह पदो (प्रतिमाओं)का विवेचन किया गया है। (१३६-४७)। अन्तमे धर्मको महिमाको प्रगट करते हुए उपसंहार किया गया है (१४८-५०)।

इसके पूर्व आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा 'चारित्रप्राभृत'मे यद्यपि संयमचरणके रूपमे सम्यक्त्वचरणपूर्वक उस श्रावकाचार या सागार संयमचरणका निरूपण किया गया है (गा० २१-२७), पर वह अत्यन्त संक्षिप्त रहा है। उसका सागारधर्मामृतपर विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। विशेषता वहां यह रही है कि उसमे सर्वप्रथम एक गाथा (२२) द्वारा दर्शन-व्रत आदि श्रावकके ग्यारह पदो या प्रतिमाओंका नामनिर्देश मात्र

किया गया है।[1] श्रावकके बारह व्रतोंका निर्देश वहाँ प्रायः उसी रूपमें हुआ है, पर चार शिक्षाव्रतोंके उल्लेखमे यह एक विशेषता रही है कि सल्लेखनाको चौथे शिक्षाव्रतके रूपमे स्वीकार किया गया है, उक्त बारह व्रतोंसे भिन्न उसे ग्रहण नहीं किया गया है—जैसेकि तत्त्वार्थसूत्र आदि अन्य ग्रन्थोंमे किया गया है। देशावकाशिक या देशव्रतको वहाँ न तीन गुणव्रतोंमें स्थान प्राप्त हुआ है और न चार शिक्षाव्रतोंमें भी। सम्भवतः कुन्दकुन्दको वह दिग्व्रतसे अतिरिक्त व्रत अभीष्ट नहो रहा है।

आशाधर विरचित 'धर्मामृत' पर उसका पर्याप्त प्रभाव रहा है, अनेक प्रसंगोंपर उसके कुछ श्लोकोंको उद्धृत भी किया गया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक २-१६ मे इस शंकाको हृदयंगम करते हुए कि आप्त तो परोक्षभूत है, उसका ज्ञान छद्मस्थोको कैसे सम्भव है; उसके समाधान स्वरूप यह स्पष्ट किया गया है कि उसका ज्ञान वर्तमानमे भी छद्मस्थोको स्वामी **समन्तभद्र** आदि विशिष्ट ज्ञानीजनोके द्वारा निर्दिष्ट आगमवचनसे और पूर्वापरविरोधसे रहित निर्दोष युक्तियोके द्वारा सम्भव है। तदनुसार प्रसंगके अनुरूप होनेसे उपर्युक्त श्लोकको 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामे प्रकृत रत्नकरण्डकके "**आप्तेनोच्छिन्नदोषेण**" आदि श्लोक (५) को उद्धृत किया गया है।

(२) श्लोक २-६८ की टीकामे सम्यग्दर्शनकी महिमाको प्रगट करते हुए रत्नकरण्डकके "**देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं**" आदि श्लोक (४१)को उद्धृत किया गया।

(३) यहीं पर आगे श्लोक २-७० की टीकामे शंकादि अतिचारोके निराकरणके प्रसगमे इसी रत्नक० के "**नाङ्गहीनमलं छेत्तुं**" आदि श्लोक (२१) को उद्धृत किया गया है।

(४) आगे श्लोक २-९६ की 'ज्ञानदीपिका' पजिकामे प्रसगके अनुरूप रत्नकरण्डकके "**कापथे पथि दुःखानां**" श्लोक (१४) को उद्धृत किया गया है।

(५) यहीं पर आगे श्लोक २-१०३ में अमूढदृष्टित्वको स्पष्ट करते हुए '**तथा च स्वामिसूक्तानि**' इस सूचनाके साथ रत्नकरण्डकके "**आपगा-**

---

१. इन ग्यारह प्रतिमाओंकी प्ररूपणा सा० धर्मामृतके ७वें अध्यायमे विस्तारसे की गई है।

सागर-स्नान" आदि तीन श्लोकों (२२-२४) को टीकामे उद्धृत किया गया है।

(६) रत्नकरण्डकमे सामायिकमे अधिष्ठित होते हुए क्या चिन्तन करना चाहिये, इसके स्पष्टीकरणार्थ ध्येयभूत संसार व उससे विपरीत मोक्षके स्वरूपको इसप्रकार प्रगट किया गया है—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमासावमि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥ र० क० १०४

इससे प्रभावित सा० ध० का यह श्लोक विपरीत क्रममे द्रष्टव्य है—

मोक्ष आत्मा सुखं नित्य· शुभ शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥ ५-३०

(७) सल्लेखनाविषयक भी शब्दसाम्य व अर्थसाम्य दोनों ग्रन्थोंमे देखने योग्य है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥ र० क० १२२
धर्माय व्याधि-दुर्भिक्ष-जरादौ निष्प्रतिक्रिये।
त्यक्तुं वपु स्वपाकेन तच्च्युतौ वाऽशनं त्यजेत् ॥ सा० ध० ८-२०.

ऐसे अन्य भी कितने ही प्रसग समान रूपमे दोनों ग्रन्थोमे उपलब्ध होते हैं।

कितने ही प्रसंगोंपर आशाधरने उनका उल्लेख कहीं **स्वामी समन्तभद्र**, कही मात्र '**स्वामी**', और कहीं '**रत्नकरण्डक**'के रूपमे किया है। यथा—

स्वामी समन्तभद्रदेव—सा० ध० श्लोक ३-२५.

स्वामी—४-५२, ४-६४, ५-२०, ७-११ और ७-१५.

रत्नकरण्डक—७-१५ आदि।

१४. **सम्मइसुत्त**—सिद्धसेन विरचित सम्मइसुत्त (सन्मतिसूत्र) यह प्राकृतगाथाबद्ध ग्रन्थ तीन काण्डोंमें विभक्त है। समस्त गाथासंख्या उसकी १६७ (५४ + ४३ + ७०) है। उसकी कुछ प्रतियोमे प्रथम काण्डका नाम 'नयकाण्ड' और दूसरे काण्डका नाम 'जीवकाण्ड' सूचित है, तीसरे काण्डका नाम किसी प्रतिमें उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थमे प्रमुखतासे नयविषयक विचार विशेषरूपसे किया गया है। आशाधरने उससे अनगार-धर्मामृतकी स्वो० टीकामे यथाप्रसंग कुछ गाथाओंको उद्धृत किया है। उनमें एक यह है—

श्लोक १-९ में सन्मार्गका उपदेशक निर्ग्रन्थाचार्य कैसा होना चाहिये, इसे अनेक विशेषणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। उनमें एक विशेषण 'तीर्थ-तत्त्वप्रणयन' है। उसके स्पष्टीकरणमे स्वो० टीकामें तीन गाथायें उद्धृत की गई हैं, जिनमे प्रथम "**जइ जिणमयं पवज्जइ**" गाथाके द्वारा यह अभि-प्राय प्रगट किया गया है कि तीर्थप्रणेताको व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंका आश्रय लेना चाहिये व किसीको छोड़ना नही चाहिये। कारण इसका यह है कि व्यवहार नयके विना जहा तीर्थका विच्छेद होता है वही निश्चयनयके बिना तत्त्वका—वस्तुस्वरूपका—विच्छेद होता है[1]।

दूसरी गाथा "**चरण-करणप्पहाणा**" आदि प्रकृत 'सम्मइसुत्त' की है (गा० ३-६०)।

तीसरी ("**णिच्छयमालंबंता**" आदि) गाथाके द्वारा यह विशेष अभिप्राय प्रगट किया गया है कि कुछ ऐसे अज्ञानी हैं **जो निश्चयका तो आलम्बन लेते हैं, पर यथार्थमें वे निश्चयको जानते नहीं हैं।** ऐसे हीना-चारी बाह्य अनुष्ठानमें आलसी होकर आवश्यकों आदिके अनुष्ठानस्वरूप **चरण-करण**[2] को नष्ट करते हैं।

१५. **समाधितंत्र**—पूज्यपादाचार्य विरचित यह एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जो कुन्दकुन्दाचार्यके नियमसार व भावप्राभृत आदि आध्यात्मिक ग्रन्थोंके आधारसे रचा गया है। इसे ग्रन्थकारने ग्रन्थको प्रारम्भ करते हुए इस रूपमें अभिव्यक्त कर दिया है—

> श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्तिसमाहितान्तःकरणेन सम्यक्।
> समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानयथाभिधास्ये ॥

---

१. यह गाथा मूलमें कहाकी रही है, यह ज्ञात नही हो सका। वैसे उसे प्रसंगानुसार अमृतचन्द्र सूरिने समयसार गा० १२ 'आत्मख्याति' में भी उद्धृत किया है। इससे भी पूर्व वह, हरिभद्र सूरिके द्वारा श्रावकप्रज्ञप्ति गा० ६१ की टीकामें भी उद्धृत की गई है (यहा गाथाका उत्तरार्ध कुछ भिन्न रहा है)।

२ करणशब्देनात्र षडावश्यकादिक्रियाचारित्रं परिगृह्यते। मूलगा० वृत्ति १०-९., 'चरण' से ५ महाव्रतों, ५ समितियों और ३ गुप्तियोस्वरूप १३ प्रकारका चारित्र अपेक्षित है।

वे कहते हैं कि मैं अपनी शक्तिके अनुसार श्रुत[२] (आगम) और आत्म-पर विवेकके साधक हेतु द्वारा सावधान अन्तःकरणसे देखकर व समीचीन रूपमें विचार करके विविक्त आत्माको—कर्म-मलसे निर्मुक्त आत्मस्वरूपको—कहूँगा।

तदनुसार ही यहां बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस तीन प्रकारके आत्मस्वरूपका कथन किया गया है[३]। यह विवेचन कुन्दकुन्दाचार्यके मोक्षप्राभृतसे अधिक प्रभावित रहा है। इसके लिये यहां एक-दो उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन् न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ।। समाधि० १८.

यह कथन मोक्षप्राभृतकी इस गाथापर आधारित रहा है—

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणग दिस्सदे णं त तम्हा जंपेमि केणहं ।। मो० प्रा० २९.

उपर्युक्त समाधितंत्रका कथन इस मोक्षप्राभृत गाथाका छायानुवाद जैसा है।

(२) व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ।। समाधि० ७८.

शब्दशः मिलान कीजिये—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ।। मो० प्रा० ३१.

आशाधरने प्रसगके अनुसार उसके कुछ श्लोकोंको अन० धर्मामृतकी स्वो० टीकामें उद्धृत किया है। यथा—

---

२. टीकाकार आ० प्रभाचन्द्रने 'श्रुत' को स्पष्ट करते हुए नियमसारकी इस गाथाको आगमके रूपमें उद्धृत किया है—

एगो मे सासदो आदा णाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।

नियमसार १०२.

३. तिपयारो सो अप्पा परमंतर-बाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवायेण चयहि बहिरप्पा ।।

मोक्ष प्रा० ४.

(१) अन० ध० श्लोक १-१—तद्ब्रूयात् तत् परान् पृच्छेत् (समाधि० ६-५३)
(२) ,, ३-३—अविद्याभ्याससंस्कारै-(समाधि० ३७.)
(३) ,, ६-५०-आत्मदेहान्तरज्ञान (समाधि० ३४.)
(४) ,, ६-८२-अदुःखभावितं ज्ञानं (समाधि० १०२.)
(५) ,, ९-१२-अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं (समाधि० ३६.)

१६. **इष्टोपदेश**—उपर्युक्त पूज्यपादाचार्य—अपरनाम देवनन्दी—विरचित यह भी एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसकी समस्त श्लोकसंख्या ५१ है। यह मुमुक्षु भव्य जीवोंके लिये अतिशय प्रेरणाप्रद है। उन्हें प्रेरित करते हुए अन्तमे ग्रन्थकारने यह स्पष्ट भी किया है कि जो विवेकी मुमुक्षु भव्यजीव इस इष्टोपदेशका सावधान होकर अध्ययन करता हुआ मान-अपमानमे समताभावको प्राप्त कर लेता है व आग्रहको छोड़ देता है वह चाहे जनाकीर्ण ग्राम-नगरादिमे रहे और या निर्जन वनमें रहे, मुक्तिलक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है।

इसपर इन्हीं आशाधरने एक टीका भी लिखी है जो ग्रन्थके रहस्यको उद्घाटित करने वाली है। इस टीकाके साथ वह मा० दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' में प्रकाशित हो चुका है। तत्पश्चात् वही उक्त टीका और हिन्दी अनुवादादिके साथ 'वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली'से भी प्रकाशित हुआ है। आशाधरने यथाप्रसंग अपने 'धर्मामृत' को स्वो० टीकामे उसके कितने ही श्लोकोंको उद्धृत किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक १-१—अविद्याभिदुर ज्योतिः (इष्टोप० ४९)
(२) ,, १-११-परोपकृतिमुत्सृज्य (,, ३२)
(३) ,, ६-४३-आरम्भे तापकान् (,, १७)
(४) ,, ६-५०-आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य (,, ४७)
(५) ,, ,, -आनन्दो निर्दहत्युद्धं (,, ४८)
(६) ,, ६-६१-न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न (,, २९)
(७) ,, ,, -जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य —(,, ५०)
(८) सा० ध० श्लोक १-३—वपुर्गृहं धनं दाराः (आनदी० में श्लोक ८)
(९) ,, ८-९७-न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न (इ० २९)
(१०) ,, ८-११०-स्वस्मिन् सदभिलाषित्वात् (३४)

यहीं पर ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रकृत इष्टोपदेश पर इन्ही आशाधरकी एक विशद टीका है, जिसमे निर्दिष्ट विषयको उन्होंने

कितने ही ग्रन्थोंसे उद्धरणोंको लेकर पुष्ट व विकसित किया है। उसमें संगृहीत अवतरणवाक्योंमे कुछ इस प्रकार हैं—

इष्टोप० श्लोक	अवतरण	कहांसे
४	गुरूपदेसमासाद्य	(तत्त्वानु० १९६)
४	ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण	(तत्त्वानु० १९७)
११	यत्र रागः पदं धत्ते	(ज्ञानार्णव २१-२५)
,,	जो खलु संसारत्थो	(पंचा० १२८)
,,	गदिमधिगदस्स देहो	(,, १२९)
,,	जायदि जीवस्सेवं	(,, १३०)
१६	शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते	(आत्मानु० ४५)
१७	दहनस्तृण-काष्ठसंचयैरपि	(चन्द्र० चरित्र १-७२)
१९	यदा त्रिकं फलं किंचित्	(तत्त्वानु० २१७)
२०	तद् ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा	(,, २२०)
२१	वेद्यत्वं वेदकत्वं च	(,, १६१)
२२	स्व-परज्ञप्तिरूपत्वान्न	(,, १६२)
,,	प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं	(समाधितंत्र ३२)
२४	यस्य पुण्यं च पापं च	(आत्मानु० २४६)
,,	तथा ह्यचरमागस्य	(तत्त्वानु० २२५)
,,	आत्मदेहान्तरज्ञान	(समाधि० ३४)
,,	सी(से)लेसिं संपत्तो	(पंचसंग्रह १-३०)
२५	ध्यायते येन तद् ध्यान (मात्र पू०)	(तत्त्वानु० ६७)
२६	अकिंचनोऽहमित्यास्व	(आत्मानु० ११०)
,,	रागी बध्नाति कर्माणि	(ज्ञाना० २१-२१)
,,	निवृत्ति भावयेद्याव	(आत्मानु० २३६)
२८	स्वबुद्धया यत्तु (यावद्) गृह्णीयात्	(समाधि० ६२)
३१	कत्थवि वलिओ जीवो	(श्रावक० १०१)
,,	जीवकृतं परिणामं	(पुरुषार्थ० १२)
,,	परिणममानस्य चिदश्चि-	(,, १३)
३३	तमेवानुभवंश्चाय	(तत्त्वानु० १७०)
४०	गुरूपदेशमासाद्य[2]	(,, ८७)

१. श्रावकप्रज्ञप्तिमें उत्तरार्ध उसका 'अम्हा णंता सिद्धा चिट्ठंति भवंमि वि अणंता ।।' इस प्रकार है।

२. तत्त्वानुशासनमें प्रथमचरण इस प्रकार है—'सम्यग्गुरूपदेशेन'।

४१ आत्मज्ञानात् परं कार्यं (समाधि० ५०)
५१ यदा मोहात् प्रजायेते (समाधि० ३९.)

पण्डित आशाधरने भूपालकविप्रणीत 'जिनचतुर्विंशतिका' पर भी टीका लिखी है। उसके प्रथम पद्यकी व्याख्या करते हुए वहाँ उन्होंने **'यथाह वाग्भट्ट:'** ऐसा निर्देश करके वाग्भटालंकारगत इन श्लोकोंको उद्धृत किया है—

१ पदानामर्थचारुत्वं (वाग्भटालंकार ३-३)
गन्धेर्भाविभ्राजितधाम (,, ३-४)

१७ **लघीयस्त्रय**—भट्टाकलंकदेव द्वारा विरचित यह ७ परिच्छेदोंमें विभक्त है। समस्त कारिकाओंकी संख्या उसकी ७८ है। वह अभयचन्द्र विरचित वृत्तिके साथ मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे पूर्वमे प्रकाशित हुआ है। तत्पश्चात् वही स्वो० विवरण और प्रभाचन्द्राचार्य विरचित 'न्यायकुमुद-चन्द्र' नामकी विस्तृत व्याख्याके साथ उसी ग्रन्थमालासे दो भागोमें पृथक्से प्रकाशित किया गया है। आशाधरने अपने अन० ध० की टीकामे **'तथा चाहुर्भट्टाकलंकदेवाः'** ऐसी सूचना करते हुए उसकी प्रसगके अनुरूप "**श्रुता-दर्थमनेकान्त**" आदि चार कारिकाओंको उद्धृत किया है (७३-७६)।

१८ **तत्त्वार्थवार्तिक**—तत्त्वार्थसुत्रका भाष्यभूत यह ग्रन्थ भी उपर्युक्त भट्टाकलंकदेवके द्वारा रचा गया है। आ० अकलंक न्याय व दर्शनके उद्भट विद्वान् रहे है। समन्तभद्राचार्यके द्वारा निर्मित देवागम स्तोत्र अपरनाम आप्तमीमांसापर उन्होने 'अष्टशती' नामकी वृत्ति लिखी है। उनकी इस दुरूह वृत्तिकी विस्तृत व्याख्यास्वरूप आ० विद्यानन्दने 'अष्टसहस्री' नामकी व्याख्या लिखी है। यह महत्त्वपूर्ण व्याख्या मूल कारिकाओ और अकलंक-की उस दुरूह वृत्तिके अभिप्रायको हृदयंगम करनेमे अत्यधिक सहायक है। इसके विना विद्वानोको भी मूल ग्रन्थका समझना कठिन था। इसी प्रकार भट्टाकलंकदेवके पूर्वोक्त लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह ग्रन्थ भी दुरूह रहे हैं, इसीलिये उन्होंने उनके ऊपर स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है। इतने पर भी दुरूह बने रहनेके कारण प्रभाचन्द्र आदिको उन्हे स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

प्रकृत तत्त्वार्थवार्तिकको आ० पूज्यपाद विरचित तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थ-सिद्धि) का भाष्य समझना चाहिये। आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी स्वो० टीका (१-६) में ग्रन्थ नामकी (धर्म्मामृत) सार्थकताको प्रगट करते हुए उदाहरणके रूपमें **'तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि)'** और '**यशोधर-**

चरित' ग्रन्थोंके नामका उल्लेख किया है। इसी प्रसंगमें आगे उन्होंने रुद्रभट्टके '**काव्यालङ्कार**'का भी उल्लेख किया है।

१९ **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**—यह पूर्वोक्त तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर आ० विद्यानन्द द्वारा विरचित न्यायप्रधान एक टीका-ग्रन्थ है।

आशाधरने अन० ध० श्लोक २-८४ की स्वो० टीकामे '**तत्त्वार्थवार्तिक**' के नाम निर्देशपूर्वक "**ततो मोहक्षयोपेतः**" आदि तीन श्लोकोंको उद्धृत किया है। किन्तु वहाँ खोजने पर ये पद्य उपलब्ध नही होते। सम्भवतः ये पद्य '**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**'के होना चाहिये। यह ग्रन्थ मेरे पास नही है, इसलिये निश्चित कुछ कहा नही जा सकता है।

२० **श्रावकप्रज्ञप्ति** (**सावयपन्नत्ती**)—श्वेताम्बर सम्प्रदायमे श्रावक-धर्मका प्ररूपक यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ४०१ गाथात्मक इसके ऊपर हरिभद्रसूरि विरचित 'दिक्प्रदा' नामकी सक्षिप्त टीका है। मूल ग्रन्थका कर्ता निश्चित नही है। सम्भवत उसके कर्ता टीकाकार स्वयं हरिभद्र-सूरि रहे हैं[1]।

आशाधरके समक्ष श्वे० ग्रन्थोमे प्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यकी हरिभद्रिसूरि व सिद्धसेन गणिकी टीकायें और हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्र आदि ग्रन्थ रहे हैं। इनका पर्याप्त उपयोग उन्होने अपने धर्मामृत ग्रन्थके उत्तर भागभूत सागारधर्मामृत और उसकी स्वो० टीकामे किया है। इसे हम कुछ उदाहरणो द्वारा स्पष्ट कर देते हैं।

श्रावक धर्म दि० और श्वे० दोनो ही सम्प्रदायोमे दो धाराओमे प्रवाहित हुआ है। यथा—दि० सम्प्रदायसे पाँच अणुव्रतोंके नाम आदिमे कुछ भेद न होते हुए भी गुणव्रतो और शिक्षाव्रतोंमे कुछ मतभेद रहा है। जैसे तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चारको शिक्षाव्रत समझना चाहिये[2]। सल्लेखनाका

---

१ देखो, भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित श्रावकप्रज्ञप्तिकी प्रस्तावना, पृ० १०-१२ मे 'ग्रन्थकार' शीर्षक।

२. 'समझना चाहिये' ऐसा इसलिये कहना पड़ा है कि तत्त्वार्थसूत्रमें सामान्यसे ही दिग्व्रतादि सातका उल्लेख किया गया है, गुणव्रत और शिक्षाव्रतका भेद वहाँ नही किया गया (७-२१)। यह अवश्य है कि वहाँ आगे सूत्र ७-२४ में जो यह निर्देश किया गया है—'**व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्**'; उनसे उक्त दिग्व्रत आदि सातको 'शीलव्रत' समझना चाहिये। ऐसी विवक्षा श्वे० सम्मत तत्त्वार्थसूत्र ७-१६ व १९ मे भी रही है।

विधान अन्तमें अनुष्ठेयके रूपमें किया गया है। (ल० सू ७, २१-२२) किन्तु रत्नकरण्डकमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण इन तीनको गुणव्रत तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्त्य इन चारको शिक्षाव्रत कहा गया है। अन्तमे सल्लेखनाको विधेक यहाँ भी निर्दिष्ट किया गया है[1]। (६७-१३३)।

श्वे० सम्प्रदायमे 'उपासगदसाओ'के अनुसार तीन गुणव्रतोमे दिग्व्रत उपभोगपरिभोगपरिमाण और अनर्थदण्डव्रत इन तीनका उल्लेख तथा शिक्षाव्रतके रूपमे सामायिक, देशावकाशिक, प्रेषधोपवास और सल्लेखना इन चारका उल्लेख हुआ है (१, पृ०५०-५७)। श्लोक २-११४ की

सा० धर्मामृतपर श्रावकप्रज्ञप्तिका प्रभाव

इस प्रकार कुछ आनुषंगिक चर्चा करके अब हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि प्रकृत श्रा०प्र० का सागारधर्मामृतपर कितना प्रभाव रहा है—

(१) श्रा० प्र० मे (गा० २५८) प्रथम अहिंसाव्रतके अतिचारोंका निर्देश मात्र किया गया है। उसकी टीकामे संक्षेपसे उन अतिचारोंको स्पष्ट करके आगे **'अत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः'** ऐसी सूचना करके प्रथम 'बन्ध' अतिचारका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

> बधो दुविही दुपयाणं चउप्पयाणं अट्ठाए अणट्ठाए। [अणट्ठाए] न वट्टए बंधिउं। अट्ठाए दुविहो सावेक्खो निरवेक्खो य। निरवेक्खो निच्चलं धणियं जं बंधइ, सावेक्खो जं दामगंठिणा जं च सक्केइ पलिवणिगादिसु मुचिउं जिंदिउं वा। न संसरपासएण बंधेयव्वं। एवं ताव चउप्पयाणंपि दुपयाणं पि, दासो वा दासी वा चोरो पुत्तो वा ण पठंतयाइ जइ बज्झंति तो सावेक्खा बंधेयव्वा रक्खियव्वा य जहा अग्गिभयादिसु न विणस्संति। ताणि किर दुपय-चउप्पयाणि सावगेणं गेण्हियव्वाणि जाणि अबद्धाणि चेव अच्छंति।

इस सन्दर्भका शब्दशः मिलान सा० ध० की स्वो० टीका (४-१५) मे इस प्रकार किया जा सकता है—

---

१. यहाँ यह स्मरणीय है कि तत्त्वार्थसूत्रके पूर्ववर्ती 'चारित्रप्राभृत'में सागारसंयम चरणके प्रसंगमे शिक्षाव्रतके चतुर्थ भेदभूत 'अतिथिसंविभाग'के स्थानमें सल्लेखनाको ग्रहण किया गया है (चा० प्रा० गा० २६)। वहाँ सल्लेखनाका विधान १२ व्रतोके अन्तर्गत ही किया गया है, पृथक्रूपमें नहीं। अतिथिसंविभाग या वैयावृत्यकी वहाँ अपेक्षा नहीं की गई है।

अत्रायं विधिः--बन्धो द्विपदानां चतुष्पदानां वा स्यात्। सोऽपि सार्थको अनर्थको वा। तत्रानर्थकस्तावच्छ्रावकस्य कर्तुं न युज्यते। सार्थकः पुनरसौ द्वेधा सापेक्षो निरपेक्षश्च। तत्र सापेक्षो यो दामग्रन्थ्यादिना शिथिलेन चतुष्पदानां विधीयते यश्च प्रदीपनादिषु मोचयितु छेत्तुं वा शक्यते। निरपेक्षो यन्निश्चल-मत्यर्थममी बन्धन्ते। द्विपदानां तु दास-दासी-चोर-जारादिप्रमत्त-पुत्रादीनां यदा बन्धो विधीयते तदा सविक्रयणा (?) एवामी बन्धनीया रक्षणीयाश्च यथाग्निभयादिषु न विनश्यन्ति। यद्वा द्विपदचतुष्पदाः श्रावकेण त एव संग्राह्या येऽबद्धा एव तिष्ठन्तीति।

इसीप्रकारसे स्मरतीव्राभिनिवेशका स्पष्टीकरण (सा० ध० टीका ४-५८। श्रा० प्र० २७०, सिद्धसेनवृत्ति त० भाष्य ७-२३), (२) परि-ग्रहव्रतके अतिचारस्वरूप क्षेत्र आदिका स्पष्टीकरण (सा० ध० टीका ४-६४ व श्रा० प्र० टीका २७६), (३) अनर्थदण्डव्रतके अतिचारस्वरूप सेव्यार्थाधिकता (उपभोगपरिभोगातिरेक) का स्पष्टीकरण (सा० ध० टीका ५-१२ व श्रा० प्र० टीका २९१), इत्यादि अन्य अतिचारप्रसंगोंको भी देखा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि आशाधरने प्रसंग प्राप्त अतिचारविशेषोंको स्पष्ट करते हुए जो उन्हें अधिक विकसित किया है उसके आधारभूत श्रावक-प्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी टीका और योगशास्त्र आदि श्वेताम्बर ग्रन्थ रहे है। इस प्रकारका उनका स्पष्टीकरण अन्यत्र किसी दि० ग्रन्थमे सम्भवतः उपलब्ध नही हो सकेगा।

अन्य प्रकारका प्रभाव

(४) सा०ध० मे सत्याणुव्रतका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

कन्या-गो-क्ष्मालीक-कूटसाक्ष्य-न्यासापलापवत्।
स्यात् सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन्॥ सा०ध० ४-३९.

यह श्रा० प्र० की इस गाथासे प्रभावित ही नही, शब्दसाम्य भी उनमें बहुत कुछ है—

थूलमुसावायस्स उ विरई दुच्चं स पंचहा होइ।
कन्या-गो-भूआलिय-नासाहरण-कूडसक्खिज्जे॥ २६०

(५) सा० ध० श्लोक ४-५२ की स्वो० टीकामें यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है—

यस्तु स्वदारवदन्यसाधारणस्त्रियोऽपि व्रतयितुमशक्तः परदारानेव वर्जयति सोऽपि ब्रह्मचर्याणुव्रतीष्यते । **द्विविधं हि तद्व्रतम्—स्वदार-सन्तोषः परदारवर्जनं चेति** । एतच्च अन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियाविति' स्त्री-द्वयसेवाप्रतिषेधोपदेशाल्लभ्यते । तत्राद्यमभ्यस्तदेशसंयमस्य नैष्ठिकस्येष्यते । द्वितीयं तु तदभ्यासोन्मुखस्य ।

उक्त टीकागत यह अभिप्राय श्रा० प्र० की इस गाथापर आधारित रहा है—

परदारपरिच्चाओ सदारसंतोस मो वि य चउत्थं ।
दुविहं परदारं खलु उराल-वेउव्विभेएण ।। २७०

यहाँ गाथामे स्पष्टतया चतुर्थब्रह्मचर्याणुव्रतको दो प्रकारका निर्दिष्ट किया गया है ।

(६) सा० ध० श्लोक ५-२० मे भोगोपभोगपरिमाणव्रतके पाँच अति-चारोंका निर्देश किया गया है । उसकी स्वो० टीकामे उन अतिचारोको स्पष्ट करके आगे '**अत्राह सिताम्बराचार्यः**' ऐसी सूचना करते हुए यह प्रगट किया गया है—भोगोपभोगके साधनभूत द्रव्यके उपार्जनके लिये जो जो कर्म (व्यापार) किया जाता है, कारणमे कार्यके उपचारसे उसे भी भोगोपभोग कहा जाता है । इसके लिये कोतवाल आदिकी प्रवृत्तिस्वरूप खरकर्मका भी परित्याग प्रकृत व्रतमें करना चाहिये । श्वेताम्बराचार्यके उक्त अभिमतका निराकरण करते हुए वहाँ कहा गया है कि यह ठीक नहीं है, क्योकि ऐसे खरकर्मोंकी गणना नही की जा सकती है—वे असं-ख्यात है । अथवा मन्दबुद्धिजनोके प्रति यदि उनका भी प्रतिपादन किया जाता है तो उसे भी ठीक समझा जा सकता है । आगे सा० ध० श्लोक ५, २१-१२ में वैसे १५ खरकर्मोंका निर्देश करके यह कहा गया है—

इति केचिन्न तच्चारु **लोके सावद्यकर्मणाम्** ।
अगण्यत्वात् प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति ।। ५-२३

इस अभिप्रायको स्वय श्वे० आचार्य सिद्धसेनगणिने त० भाष्य ७-१६ की टीकामे इसप्रकार अभिव्यक्त कर दिया है—

प्रदर्शनं चैतद् बहुसावद्यानां कर्मणाम्, न परिगणनमिति । (विशेष स्पष्टीकरण उसका आगे 'योगशास्त्र' के प्रसंगमें किया जानेवाला है)

(७) सा० ध० के छठे अध्यायमे १४ श्लोकोमे प्रातःकालीन क्रियाओंका निर्देश करते हुए सर्वप्रथम यह कहा गया है—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ।। ६-१

यह श्रा० प्र० की इस गाथासे प्रभावित रहा है—

नवकारेण विवोहो अणुसरण सावओ वयाइंमि ।
जोगो चिइवंदणमो पच्चक्खाणं च विहिपुव्व ।। ३४३

यह प्रातःकालीन अनुष्ठानका विधान आगे दोनो ग्रन्थों—सा० ध० ६, २-१४ व श्रा० प्र० गाथा ३४४-६४ मे–द्रष्टव्य है ।

(८) सा० ध० श्लोक ७-५ की टीकामे आहारप्रोषध, अंगसंस्कारप्रोषध व्यापारप्रोषध और ब्रह्मचर्यप्रोषध इन चार प्रकारके प्रोषधव्रतकी सूचना की गई है ।

इसका आधार श्रा० प्रज्ञप्तिकी यह गाथा रही है—

आहारपोसहो खलु सरीरसक्कारपोसहो चेव ।
बभव्वावारेसु य तइयं सिक्खावय णाम ।। ३२१.

(९) सा० ध० श्लोक ४-५ मे सामान्यसे पाँच अणुव्रतोके स्वरूपका निर्देश करते हुऐ गृहवाससे विरत श्रावकके स्थूलवध आदिसे निवृत्त मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमत इनके संयोग रूप नौ भेदोंसे और गृहवासमे रत श्रावकके अनुमतिके विना उन्ही छह भेदोसे निर्दिष्ट की गई है । टीकामे उन्हे विशद करते हुए समस्त भंगोंकी संख्या १४७ को स्पष्ट भी कर दिया गया है ।

श्रा० प्र० गाथा ३२९-३० मे उन गृहिप्रत्याख्यानके समस्त भेदोंको उक्त १४७ संख्याको मूलमे ही स्पष्ट कर दिया गया है ।

विशेषता यहाँ एक यह रही है कि सा० ध० के उस श्लोकमे **'क्वचित-परेऽप्यनुमते'** यह कह गृहस्थ श्रावकके जहाँ विकल्पके रूपमें अनुमतिका निषेध मात्र किया गया है वहाँ श्रा० प्र० से आगे गाथा ३३१-३८ मे देशविरतश्रावकके अनुमतिका प्रतिषेध कैसे सम्भव है, इसकी चर्चा शंका समाधान पूर्वक की गई है ।

(१०) अन० ध० श्लोक १-९ मे निर्ग्रन्थाचार्यके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए प्रसंगवश उसकी टीकामे इस गाथाको उद्धृत किया है—

जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहार-णिच्छए मुअह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ।।

यह गाथा प्रायः इसी रूपमे अमृतचन्द्रसूरिके द्वारा समयसार गाथा १२की आत्मख्याति टीकामे भी उद्धृत की गई उपलब्ध होती है ।

इसके भी पूर्व वही गाथा प्रस्तुत श्रावकप्रज्ञप्तिगत गाथा ६१ की टीकामे भी अन्य दो गाथाओंके साथ कुछ पाठभेदके निर्देशपूर्वक इसप्रकार उद्धृत देखी जाती है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह ।
ववहारनयउच्छेए तित्थुच्छेओ अओऽवस्सं ॥

इस प्रकारसे यहाँ उसका उत्तरार्ध भिन्न है। इससे अभिप्रायमें भी कुछ भेद हुआ है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आशाधरने प्रसंगप्राप्त श्रावकाचारको विकसित करनेमें प्रस्तुत श्रा० प्र० व इसी प्रकारके अन्य श्वे० ग्रन्थोंका भी विशेष आश्रय लिया है।

२१ **धर्मबिन्दुप्रकरण**—यह हरिभद्रसूरि विरचित धर्मका प्ररूपक एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। आठ अध्यायोंमे विभक्त उसकी समस्त गद्यात्मक सूत्र-संख्या ५४२ है। साथ ही उसमे ४८ श्लोक (अनुष्टुप्) भी है, जो प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भ और अन्तमे ३-३ की सख्यामें है। प्रथम अध्यायका प्रारम्भ करते हुए नमस्कारात्मक मंगलके पश्चात् ग्रन्थकारने श्रुतसमुद्रसे धर्मबिन्दुके समान धर्मबिन्दुको उद्धृत करके उसके कथनकी प्रतिज्ञा की है। अनन्तर उसके इस प्रथम अध्यायमे सामान्यसे गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए प्रथमतः **न्यायोपार्जित** धनको आवश्यक बतलाया है। तत्पश्चात् समान कुल-शीलादिवाले अगोत्रजो (भिन्न गोत्रवालो) मे विवाह आदि स्वरूप ३३ प्रकारके सामान्य धर्मका निरूपण किया है।

सागारधर्मामृत श्लोक १-११ मे गृहस्थधर्मके आचरण करने योग्य जिन १४ विशेषताओंका उल्लेख किया गया है उनमें प्रथम (प्रमुख) **न्यायोपात्तधन** ही है। शेष विशेषतायें प्रायः उपर्युक्त धर्मबिन्दु प्रकरणमे निर्दिष्ट उन ३३ विशेषताओंके अन्तर्गत हैं।

आशाधरने उपर्युक्त विशेषताओंका स्पष्टीकरण या तो इस धर्मबिन्दु प्रकरणके आधारपर किया है या फिर उक्त धर्मबिन्दुके आश्रयसे उन विशेषताओंके प्ररूपक योगशास्त्रके आधारपर किया है। यह योगशास्त्र आशाधरके समक्ष रहा है, इसे हम यथाप्रसंग आगे स्पष्ट करनेवाले हैं।

२२ **महापुराण**—आ० जिनसेन विरचित प्रकृत महापुराण आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो भागोंमें विभक्त हैं। इसमे आदि जिनेन्द्र व शेष २३ तीर्थङ्करोंके अतिरिक्त चक्रवर्ती आदि सब शलाकापुरुषोंके

चरित्रकी प्रमुखतासे प्ररूपणा की गई है, साथ ही यथाप्रसंग उसमें वर्ण-व्यवस्था, संस्कार और सदाचार आदिकी भी प्ररूपणा की गई है, जो समयानुरूप आवश्यक रही है।

आशाधरने अपने धर्मामृत ग्रन्थके पूर्व व उत्तर दोनों भागोंमें प्रसंगानुरूप उसका पर्याप्त अनुसरण किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक ९-२की स्वो० टीकामें मोक्षमार्गप्रणेता अरहन्तकी स्तुति करते हुए 'आर्ष'के उल्लेख पूर्वक महापुराणके गर्भान्वयक्रियासे सम्बद्ध इस श्लोकको उद्धृत किया गया है—

मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा॥ ३८-५८

(२) आगे श्लोक १-११ की टीकामे परार्थको स्वार्थ समझनेवालोंकी प्रशंसा करते हुए '**तथा चोक्तमार्षे**' इस निर्देशके साथ महापुराणगत "**स्वदुःखैर्निर्घृणारम्भाः**" इत्यादि श्लोक (९-१६४) को उद्धृत किया गया है।

(३) श्लोक १-३८ में जिस धर्मके समक्ष कल्पवृक्ष व चिन्तामणि आदि भृत्यके समान दिखते हैं उसके माहात्म्यको प्रगट करते हुए '**तथा चोक्तमार्षे**' इस सूचनाके साथ उसकी टीकामे महापुराणके "**न वनस्पतयोऽप्येते**" इत्यादि श्लोक (९-४९) को उद्धृत किया गया है।

(४) श्लोक ३-९ में चरित और पुराणरूप दो प्रकारके प्रथमानुयोगके प्रथित करनेकी प्रेरणा की गई है। उस प्रसंगमे उसकी टीकामे '**यदार्षम्**' कहकर महापुराणके अन्तर्गत "**लोको देशः पुरं**" आदि श्लोक (४-३) को उद्धृत किया गया है, जिसमे व्याख्येय विषयके पूर्व ही लोक व देश आदि आठ वर्णनीय विषयोंकी प्ररूपणा को आवश्यक कहा गया है।

मूल श्लोक रत्नकरण्डकके "**प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।**" इस श्लोक (४३) पर शब्दश: आधारित रहा है।

(५) आगे अन० ध० श्लोक ८-३९ मे नामस्तवनके स्वरूपका निर्देश किया गया है। उस प्रसंगमें उसकी टीकामें महापुराणके अन्तर्गत **जिन-सहस्रनामसे** इन चार श्लोकोंको उद्धृत किया गया है—

१ ध्यानद्रुघणनिर्भिन्न (महापु० २५-६९)
२ त्रैलोक्यनिर्जयावाप्त (,, २५-७०)
३ गोचरोऽपि गिरामासां (,, २५-२१९)
४ संज्ञासंज्ञद्वयावस्था (,, २५-९५)

धर्मामृतके उत्तर भागभूत सागारधर्मामृतमें प्रतिपादित अनेक विषयों- के पुष्टिकरण व स्पष्टीकरणमें प्रकृत महापुराणका आश्रय अधिक लिया गया है। यथा—

(६) सा० ध० श्लोक १-१८ मे नित्यमह व अष्टान्हिक आदि अनेक पूजाविधानों, समदत्ति आदि दानविशेषों एवं तप-संयम आदि धार्मिक क्रियाओंके सम्पन्न करनेके लिये गृहस्थको जो कृषि व वाणिज्य आदि सावद्य कर्मोंका आश्रय लेना पड़ता है उससे उत्पन्न किंचित् पापका उसे जिनोपदिष्ट शुद्धि (प्रायश्चित्त) और पक्ष-चर्या आदिके द्वारा निराकरण कर देनेकी प्रेरणा की गई है। इस प्रसंगको उसकी 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामें विशेष रूपसे स्पष्ट करते हुए '**उक्तं चार्षे भगवज्जिनसेनपादैः**' ऐसी सूचना करके महापुराणसे प्रसंगके अनुरूप १५ (३४ को छोड़) श्लोकों (३८, २६-४१) को उद्धृत किया गया है।

(७) श्लोक २-३ मे श्रावकके आठ मूलगुणोंके विषयमें जिन तीन मतोका निर्देश किया गया है उन्हे स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामे पिछले श्लोक (२-२७) में निर्दिष्ट मद्य, मांस, मधु और पाँच क्षीर- फलों ('ऊमर आदि) उन आठके परित्यागको **उपासकाध्ययनादि** (उपासका० २७०) शास्त्रोंका अनुसरण करनेवालोंका मत कहा गया है। स्वामी **समन्तभद्रके** मतानुसार मद्य, मास, मधु और पाँच स्थूल हिंसादि पाप इन आठके परित्यागको आठ मूलगुण माना गया है (रत्नकर० ६६)। समन्तभद्रको अभीष्ट इन्ही आठ मूलगुणोमे मधुके परित्यागकी अपेक्षा उसके स्थानमे द्यूतके त्यागको ग्रहण करनेपर आठ मूलगुण आ० जिनसेन द्वारा स्वीकार किये गये है।

जिनसेनाचार्यके इस मतको स्पष्ट करते हुए उसकी 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामे एक यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

> हिंसाऽसत्य-स्तेयादब्रह्म-परिग्रहाच्च बादरभेदात्।
> द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥

यहाँ यह स्मरणीय है कि महापुराणमे इस श्लोकके खोजनेपर भी वह वहाँ मुझे दृष्टिगोचर नही हुआ।

(८) आगे यहींपर श्लोक २-२१में जो सद्गृहस्थ धर्माचार्यके उपदेशसे कुलक्रमागत मिथ्यात्वको छोड़कर जिनप्रणीत मोक्षमार्गका आश्रय लेता है उसकी स्तुति की गई है। उस प्रसंगमें वहाँ उसकी टीकामें मिथ्यादृष्टिके

लिये जिन आठ दीक्षान्वय क्रियाओंका उल्लेख किया गया है उनके विषयमे वहाँ यह सूचना की गई है कि यहाँ उनका कथन संक्षेपसे किया गया है, विस्तारसे उन्हे 'ज्ञानदीपिका'मे अथवा आर्षमे देखना चाहिये। आगे उन आठ दीक्षान्वय क्रियाओंके निर्देशक एक **आर्षोक्त श्लोकको** इस प्रकार उद्धृत कर दिया गया है—

अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः।
पूजाराध्यो पुण्ययज्ञो दृढचर्योपयोगिता॥ ३८-६४

तदनुसार वे आठ दीक्षान्वयक्रियायें ये हैं—१ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता।

इनका स्पष्टीकरण **आर्ष**—जिनसेन विरचित महापुराण—मे लगभग १७ श्लोकों (३९, ३४-५०) के द्वारा किया गया है। स्मरण रहे कि यह विवेचन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन दीक्षा योग्य वर्णोंके आश्रयसे किया गया है।

(९) ठीक इसके आगे सा० ध० श्लोक २-२२ मे शूद्रको लक्ष्य करके यह कहा गया है कि वह भी उपस्कार (आसन आदि उपकरण) आचार-मद्य आदिका त्याग-और शरीर इन तीनकी शुद्धिसे पूर्वोक्त तीन वर्णोंके समान जिनधर्मके सुनने योग्य हो जाता है, क्योंकि जातिमे पतित होनेपर भी काल आदिकी लब्धिसे—धर्माराधनकी योग्यताके होनेपर—जीव श्रावकधर्मका आराधक हो जाता है। इसकी टीकामे वहाँ उस प्रसगमे वर्णके लक्षणका निर्देश करते हुए '**वर्णलक्षणमार्षे यथा**' इस प्रकारके निर्देशपूर्वक महापुराणके इस श्लोकको उद्धृत किया गया है—

जाति-गोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतव.।
येषु स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषा शूद्रा प्रकीर्तिता.[1]॥

(१०) श्लोक २-५८मे कन्यादानविधिको स्पष्ट किया गया है। उस प्रसंगमे यहाँ 'ज्ञानदीपिका' पंजिका '**धर्म्यविवाहविधिरार्षोक्तो** यथा' ऐसी सूचना करते हुए महापुराणसे "**ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया।**

---

१ यह श्लोक महापुराणमें होना चाहिये, पर खोजनेपर वहाँ वह दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

उसके समकक्ष यह एक श्लोक उपासकाध्ययनमें उपलब्ध होता है—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः।
मनोवाक्काय धर्माय मता. सर्वेऽपि जन्तवः॥ ७९१.

वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥'' इत्यादि आठ श्लोकों (३८, १२७-३४)को उद्धृत किया गया है ।

(११) आगे श्लोक ५-४७ में दाताकी विशेषताको प्रगट करते हुए उसे नौ कोटियों—मन, वचन, काय, ये तीन, प्रत्येक कृत, कारित व अनुमत इन नौ—से विशुद्ध कहा गया है। प्रकारान्तरसे वहाँ टीकामें उन्हीं नौ कोटियोंको स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है—अथवा देयशुद्धिस्तत्कृते च दातृ-पात्रशुद्धी, दातृशुद्धिस्तत्कृते च देय-पात्रशुद्धी, पात्रशुद्धिस्तत्कृते च देय-दातृशुद्धी चेत्यार्षोक्ताः' ।

इस प्रकार यहाँ आर्ष (महापुराण)के अनुसार अन्य प्रकारसे भी उन नौ कोटियोंका निर्देश किया गया (म० पु० २०, ८६-८७) ।

(१२) आगे यहीपर प्रकृत अतिथिसंविभागव्रतके प्रसंगमें पूर्वनिर्दिष्ट (५-४७) मन-वचन-काय सहकृत कृत, कारित और अनुमत रूप नौ कोटियोंके स्पष्टीकरणार्थ श्लोक ५-५०मे वज्रजंघ राजा आदिके उदाहरणको प्रस्तुत किया गया है। पर श्लोकमे वहाँ उनके कथानककी ओर कुछ संकेत नही किया गया है। इससे उसकी स्वो० टीकाके प्रारम्भमें '**किल एवं ह्यार्षे श्रूयते**' ऐसी सूचना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि उसका आख्यान आर्ष—महापुराण—मे देखा-सुना जाता है ।

तदनुसार वहाँ आगे यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत मुनिदानका कर्ता वज्रजंघ राजा और कारयित्री (प्रेरिका) उसकी पत्नी श्रीमती रही है। अनुमोदक उसके वज्रजंघका मंत्री मतिवर, पुरोहित आनन्द, सेनापति अकम्पन और राजश्रेष्ठी धनमित्र ये चार मनुष्य तथा सूकर, बन्दर और नकुल (नेवला) ये तीन तियच भी रहे है। इन सबने यथायोग्य उस दानके फलको प्राप्त किया है (म० पु० ८, १६७-७६ व १९०-२४३)।

(१३) आगे सा० ध० श्लोक ७-९ में सचित्तविरत (पाँचवें श्रावक) की दयालुताकी प्रशंसा करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि वह अनन्त निगोत जीवोंकी आश्रयभूत हरी वनस्पतियोंका भक्षण नहीं करता है। उसकी टीकामें उन हरी वनस्पतियोंको अनन्त निगोत जीवोंकी आश्रितताके स्पष्टीकरणमे '**उक्तं चार्षे ब्राह्मणसृष्टिप्रस्तावे**,' ऐसा निर्देश करते हुए महापुराणगत इस श्लोकको उद्धृत किया गया है -

सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु ।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥

(१४) आगे सा० ध० श्लोक ७-२० मे यह स्पष्ट किया गया है कि सातवें उपासकाध्ययन अंगमे ब्राह्मण-क्षत्रियादि चार वर्णोंके समान क्रिया (धर्म-कर्म) के भेदसे ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार आश्रम कहे गये हैं।

उसकी स्वो० टीकामें श्लोकमे निर्दिष्ट 'क्रियाभेद' के प्रसंगमें '**तत्क्रियाप्रपञ्चः पुनरार्षे**' ऐसा निर्देश करके इन श्लोकोका उद्धृत कर दिया गया है—

> **शिखीसिताशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः।**
> **व्रतचिन्हं दधत् सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ॥** म० प्र० ३८-१०६
> **चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदास्य वै।**
> **वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात्॥** ३८-१०७

इत्यादिग्रन्थेनोक्तः।

इस प्रकारसे महापुराणमे जो तद्विषयक विशेष कथन किया गया है उसकी ओर संकेत कर दिया है। ये कुछ प्रसंग यहां प्रस्तुत किये गये हैं। वैसे आशाधरने अपने धर्मामृत—विशेषकर सागारधर्मामृतकी रचनामे प्रकृत महापुराणका आश्रय अधिक लिया है।

२३ **आत्मानुशासन**—जैसा कि ग्रन्थनामसे ही स्पष्ट है, गुणभद्राचार्य विरचित यह एक आत्महितोपदेशक अध्यात्मग्रन्थ है। इसमे ग्रन्थकार द्वारा सुभाषितोके रूपमे आत्मोद्धारकी शिक्षा दी गई है। समस्त पद्य-संख्या उसकी २७० है। यह आशाधरके समक्ष रहा है व उन्होंने उससे प्रसंगके अनुसार कुछ पद्योको लेकर धर्मामृतकी स्वो० टीकामे उन्हे उद्धृत किया है। जैसे—

(१) अन० ध० श्लोक १-२४ में धर्मकी महिमाको प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जिस धर्ममे अनुराग रखनेसे भव्य जीव नवीन कर्मके आगमनको रोकता है और पूर्वोपार्जित पापका क्षय भी करता है वह धर्म अभ्युदय—स्वर्ग आदिके सुख—को प्रदान करनेवाला है। उसकी टीकामें '**शास्त्रे यथा**' ऐसा निर्देश करते हुए उस प्रसंगमें प्रकृत आत्मानुशासनके "**धर्मादवाप्तविभवो**" आदि श्लोक (२१) को उद्धृत किया गया है।

(२) आगे अन० ध० श्लोक ९-७ में रात्रिके पिछले भागमें स्वाध्याय कब करना चाहिये और कब उसे समाप्त कर देना चाहिये, इत्यादिको स्पष्ट किया गया है। उसकी टीकामें उसे स्पष्ट करते हुए प्रसंगके अनुरूप

वहां गुणभद्रके नामोल्लेख पूर्वक आत्मानुशासनके **"यम-नियमनितान्तः"** आदि पद्य (२२५) को उद्धृत किया गया है।

इसके पूर्व अन० ध० श्लोक २-१४ में जो आप्तके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है उसे और स्पष्ट करते हुए उसकी 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामे आत्मानुशासनकी प्रभाचन्द्रविरचित टीका (श्लोक ९) से **'क्षुधा तृषा भयं द्वेषो'** आदि तीन श्लोकोंको तथा श्लोक २-१०३ की टीकामें आत्मानुशासनकी उस टीका (श्लोक १०) से **'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ'** आदि श्लोकको भी उद्धृत किया गया है।

(३) सा० ध० श्लोक १-११ मे श्रावकधर्मके आचरणके योग्य गृहस्थकी जिन १४ विशेषताओंका निर्देश किया गया है उनमें एक 'धर्मविधिका सुननेवाला' भी है। ज्ञानदीपिकामे उसे स्पष्ट करते हुए उस प्रसंगमें आत्मानुशासनगत '**भव्यः किं कुशलं ममेति**' आदि पद्य (७) को उद्धृत किया गया है।

(४) आगे श्लोक १-१५ मे कहा गया है कि जो मूल और उत्तर गुणों पर निष्ठा रखता है तथा दान-पूजाको प्रमुख मानता है वह स्व-परभेद-विज्ञानका इच्छुक श्रावक होता है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी ज्ञानदीपिका पजिकामे आत्मानुशासनगत '**आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्**' इत्यादि पद्य (३७) को उद्धृत किया गया है।

(५) यही पर श्लोक २-१ में जिनागमके द्वारा परित्यागके योग्य विषयोंको जानता देखता हुआ भी जो मोहके वश उनके छोड़नेमे असमर्थ होता है उसे गृहस्थधर्मके धारणकी अनुमति दी गई है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी ज्ञानदीपिकामे प्रकृत आत्मानुशासनके **'विषय-विषमाशनोत्थित'** इत्यादि पद्य (१७) को उद्धृत किया गया है।

२४ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—यह उन्ही अमृतचन्द्रसूरिकी महत्त्वपूर्ण कृति है, जिन्होंने अध्यात्मके मर्मज्ञ कुन्दकुन्दाचार्यके समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थोके रहस्यको उद्घाटित किया है तथा जो परमागमके बीजभूत अनेकान्तके अतिशय भक्त रहे हैं। इसमें पुरुषार्थसिद्धि (मुक्ति) के उपायभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्ररूपणा करते हुए प्रमुखतासे श्रावकाचारकी प्ररूपणा की गई है। यहां प्रारम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि जो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको यथार्थ रूपमे जानकर मध्यस्थ रहता है दुराग्रही नहीं होता वह देशनाके योग्य होता है और उसे ही उसका सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है। साथ ही वहां

महाव्रतादि स्वरूप समस्तविरतिकी महिमाके दिखलाने पर भी जो भव्य उसके स्वीकार करनेमे असमर्थ होता है उसे देशविरति स्वरूप श्रावकधर्म-के परिपालनकी अनुमति दी गई है। इसी प्रसगसे यहा अमृतचन्द्रसूरिने अपनी विशिष्ट पद्धतिसे उस श्रावकाचारकी प्ररूपणा की है। आशाधरने उससे प्रसंगके अनुसार कुछ पद्योको लेकर अपने धर्मामृतकी स्वो० टीका-मे उद्धृत किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक १-११० मे यह निर्देश किया गया है कि आत्मा-में जितने अशमे विशुद्धि हाती है उतने अशमे उसके बन्ध नही होता, और जितने अंशमे राग होता है उतने अशमे उसके बन्ध होता है। वह श्लोक यह है—

येनाशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम्।
येनाशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम्॥ अन० ध० १-११०.

यह अभिप्राय प्रकृत पुरुषार्थसिद्धयुपायके रत्नत्रयसे सम्बद्ध तीन पद्यो (२१२-१४) पर आधारित रहा है। उनमें सम्यग्दर्शन (सुदृष्टि) से सम्बद्ध प्रथम पद्य इस प्रकार है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनाशेन तु रागस्तेनाशेनास्य बन्धनं भवति॥ २१२.

आगेके श्लोक २१३ मे 'सुदृष्टि' के स्थानमे मात्र 'ज्ञानं' और श्लोक २१४मे उस 'सुदृष्टि'के स्थानमें मात्र 'चरित्र' पद परिवर्तित हुआ है, शेष सब पदविन्यास जैसा-का-तैसा है। इस प्रकार आशाधरने सामान्यसे प्रकृत रत्नत्रयके लिये एक मात्र 'विशुद्धि' पदका उपयोग किया है।

(२) अन० ध० श्लोक २-६४ मे सम्यक्त्वके माहात्म्यका प्रगट करते हुए हेय-उपादेयके ज्ञायक सम्यग्दृष्टिकी प्रशसा की गई है। उस प्रसंगमे उसकी स्वो० टीकामे समान समयमे प्रादुर्भूत होने वाले सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दोनोमे परस्पर कार्य-कारणभाव प्रगट किया गया है। तदनुसार समान समयमे—साथ साथ—उत्पन्न होने पर भी उन दोनोंमे कार्य-कारणभाव सम्भव है, इसकी पुष्टिमे वहां 'तथा चोक्तं' के निर्देशपूर्वक दीपक और प्रकाशका उदाहरण देते हुए प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्धयुपायके **'कारणकार्यविधानं'** आदि पद्य (३४) को उद्धृत किया गया है।

(३) इसी प्रसंगमे आगे वहीं पर सम्यक्त्वके पश्चात् जो सम्यग्ज्ञानकी आराधना की जाती है उसके औचित्यको प्रमाणित करते हुए पु० सि० के **'सम्यग्ज्ञानं कार्यं'** आदि पद्य (३३) को उद्धृत किया गया है।

(४) इसी सिलसिलेमे उसी श्लोककी टीकामें 'प्रसंगप्राप्त एक शंकाके समाधानस्वरूप उन दोनोंसे लक्षणभेदमे कथंचित् भिन्नताको प्रगट करते हुए पु० सि० के **'पृथगाराधनमिष्टं'** आदि पद्य (३२) को भी उद्धृत किया गया है।

(५) अन० ध० श्लोक २-१०३ मे देवमूढतादि तीन मूढताओंके अभावस्वरूप अमूढदृष्टित्वकी प्रशसा की गई है। उस प्रसंगमें वहा उसकी टीकामें **'ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्'** इस उल्लेखके साथ इस पु० सि० के **'लोके शास्त्राभ्यासे'** आदि पद्य (२६) को उद्धृत किया गया है। यह स्मरणीय है कि आशाधरने अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख **ठक्कुर (ठाकुर)** के नामसे भी अनेक बार किया है।

(६) आगे अन० ध० श्लोक ६-८१ मे अन्य सत्य आदिकी अपेक्षा अहिंसाधर्मको प्रमुख बतलाते हुए अविनश्वर सुखकी प्राप्ति उसीके आधार पर निर्दिष्ट की गई है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामें पु० सि० के **'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।** (४४)' इस पद्यको उद्धृत किया गया है।

(७) धर्मामृतके उत्तर भागभूत सा० ध० श्लोक २-२ में पाक्षिक श्रावकको प्रथमतः हिंसाके निराकरणार्थ जिनागमके श्रद्धानपूर्वक मद्य, मास, मधु और पांच क्षीरफलो (ऊमर आदि) के परित्यागस्वरूप आठ मूलगुणोके पालनकी प्रेरणा की गई है। यह विवेचन पुरुषार्थसिद्ध्युपायके निम्न पद्यपर आधारित रहा है—

> मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
> हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१.

यह यहां ध्यातव्य है कि आशाधरने सा० ध० में जिस श्लोक (२-२) के द्वारा—जो कि शब्द व अर्थ दोनोंसे उक्त पु० सि० के श्लोकसे समान है—उन आठ मूलगुणोंका विधान किया है, उसका कुछ उल्लेख उन्होंने नहीं किया। किन्तु उन्होंने आगे (२-३) उस प्रसंगमे सोमदेवसूरि विरचित उपासकाध्ययनका उल्लेख किया है। यथा—

किंविशिष्टान् एतान्? **उपासकाध्ययनादिशास्त्रानुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयतयोपदिष्टान्।** सा० ध० स्वो० टीका २-३.

इसे आगे उपासकाध्ययनके प्रसंगमें विशेष रूपमे स्पष्ट किया जायगा।

(८) आगे चलकर श्लोक २-५ मे रसागजीवसमूहके विघातक मद्य-पानकी निकृष्टताको अभिव्यक्त किया गया है। वह पु० सि० के इस श्लोकसे पूर्णतया प्रभावित है तथा यहीपर उसे ज्ञानपजिकामे उद्धृत भी कर दिया गया है—

रसजानां च बहूना जीवाना योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजता तेषा हिंसा सजायतेऽवश्यम् ।। ६३

(९) इसी श्लोकमे आगे यह स्पष्ट किया गया है कि मद्यपान करनेपर काम, क्रोध भय और भ्रम (मिथ्याज्ञान) आदि रूप सावद्य उत्पन्न होता है।

इस अभिप्रायको आगे पु० सि० के **'अभिमान-भय-जुगुप्सा'** आदि पद्य (६४) मे प्रगट किया गया है।

(१०) सा० ध० श्लोक २-७ मे यह स्पष्ट किया गया है कि स्वयं मरे हुए भी मत्स्य व भैस आदिके मांसका भक्षण करने अथवा स्पर्श करनेवाला भी जीव हिंसक होता है।

इस अभिप्रायको पु० सि० के इस पद्यमे अभिव्यक्त किया गया है—

यदपि किल भवति मासं स्वयमेव मृतस्य महिष-वृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ।। ६६

सा० ध० के उपर्युक्त श्लोक (२-७) के उत्तरार्धमे हेतुके रूपमे यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि उक्त मरे हुए पशुकी जो पकी अथवा कच्ची मासपेशियां होती है वे सदा निगोदजीवसमूहको उत्पन्न करनेवाली हैं।

इस अभिप्रायको प्रकृत पु० सि० मे उक्त पद्यसे आगेके दो पद्यो (६७-६८) मे लगभग उन्ही शब्दोंके द्वारा प्रगट किया गया है।

(११) आगे श्लोक २-११ मे मधुभक्षणके दोषोको दिखाते हुए उसको 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामें जिन छह श्लोकोंको उद्धृत किया गया है उनमे **'स्वयमेव विगलितं यद्'** आदि एक पु० सि० का भी है (७०)।

(१२) इसके आगे वहां श्लोक २-१३ मे पांच उदुम्बरफलोका निर्देश करते हुए जो यह कहा गया है कि इनमे आर्द्र (कच्चे) फलोंका खानेवाला त्रस जीवोंका घात करता है और उन सूखे फलोका भक्षक रागभावके कारण आत्मविघातको—भावहिंसाको—करता है।

यह अभिप्राय पु० सि० के **'योनिरुदुम्बरयुग्मं'** आदि दो पद्यों (७२-७३) मे प्रगट किया गया है।

(१३) इसके पूर्व सा० ध० श्लोक २-१२ में मधुके समान नवनीतका भी परित्याग कराया गया है।

पु० सि० में भी उसके पूर्व पद्य ७१ में मधु, मद्य और मांसके साथ उस नवनीतका भी परित्याग कराया गया है।

(१४) आगे श्लोक २-१४ मे रात्रिभोजनके परित्यागकी प्रेरणा करते हुए यह कहा गया है कि उसके करनेमें रागभाव, जीववध और अपाय (जलोदर आदि रोग) का होना सम्भव है। अभिप्राय यह हुआ कि रातमें भोजनके करनेसे रागभावके कारण भावहिंसा और प्राणिघातरूप द्रव्यहिंसा दोनों प्रकारकी हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त अदृष्ट कुछ विषैले जन्तुओके भक्षणसे जलोदर आदि कष्टकर कितने ही रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रसगमे वहां उसकी ज्ञानदीपिका पंजिकामे पु० सि० के 'अर्कालोकेन बिना' आदि पद्य (१३३) को प्रसंगके अनुरूप होनेसे उद्धृत किया गया है।

(१५) आगे सा० ध० श्लोक ८-१०७ में शुद्ध आत्मस्वरूपसे सम्बद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयका निर्देश किया गया है। उस प्रसंगमे उसकी स्वो० टीका में 'उक्तं च' कहकर पु. सि के तदनुरूप इस पद्यको उद्धृत किया गया है—

> दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
> स्थितिरात्मनि चरित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ २१६.

इस प्रकार आशाधरने अपने 'धर्मामृत' की रचनामे प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्ध्युपायका पर्याप्त आश्रय लिया है। यह भी एक उनकी विशेषता रही है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें प्रसंगके अनुसार मद्य, मांस, मधु, नवनीत और पांच उदुम्बरफलोंका विवेचन जिस क्रमसे किया गया है (६१-७३) उसी क्रमसे प्रायः उनका विचार सागारधर्मामृत (२, ३-१४) मे भी किया गया है। विशेष इतना है कि सा० ध० में जहाँ एक ही श्लोक (२-१४) में रात्रिभोजनके त्यागका उल्लेख किया गया है वहाँ पु० सि० में उसका विवेचन परिग्रहपरिमाणअणुव्रतके प्रसंगमें १२९-३४ पद्योंमें किया गया है।

(२५) **समयसार-कलश**—यह मननीय आध्यात्मिक कृति भी उपर्युक्त अमृतचन्द्रसूरिकी है। उन्होने कुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय जैसे गम्भीर ग्रन्थोंकी व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने ग्रन्थगत ग्रन्थकारके हार्दको हृदयंगम करते हुए उसे पूर्णतया

सुरक्षित रक्खा है। वह उनकी व्याख्या 'आत्मख्याति'के रूपमें प्रसिद्ध है। उन्होंने समयसारकी 'आत्मख्याति' मे प्रत्येक-गाथाका गद्यरूपमे जो विशद व्याख्यान किया है उसके मध्यमे अधिकांश गाथाओंके अभिप्रायको उस आत्मख्यातिके मध्यमे आकर्षक सुललित संस्कृत-पद्यों द्वारा प्रगट किया है। 'समयसारकलश' नामसे प्रसिद्ध उन पद्योंने एक स्वतंत्र ग्रन्थका रूप ले लिया है। जिस प्रकार प्रासाद-शिखरके ऊपर प्रतिष्ठित कलशसे प्रासादकी शोभा वृद्धिको प्राप्त होती है उसी प्रकार इन पद्यमय कलशोंकी प्रतिष्ठासे ग्रन्थकी शोभा वृद्धिगत हुई है। इससे उनका 'समयसार-कलश' यह नाम भी सार्थक रहा है। इन पद्यमय कलशोंकी समस्त संख्या २७८ है। अन्तमे व्याख्याकार अमृतचन्द्रसूरिने आत्मकृतित्वके परिहारार्थ यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि शुद्ध आत्मारूप जो समय स्वरूपगुप्त है—परद्रव्यके संसर्गसे रहित आत्मस्वरूपमे सुरक्षित या प्रतिष्ठित है—उसकी व्याख्या अपनी शक्तिके अनुसार वस्तुस्वरूपको सूचित करनेवाले परद्रव्यरूप शब्दो द्वारा की गई है। इसमे अमृतचन्द्र सूरिका कुछ कर्तव्य कार्य नही रहा है।

आशाधरने अपने धर्मामृत—विशेषकर अनगारधर्मामृत—की रचनामे यथाप्रसंग इन कलशोका उपयोग किया है। कुछ प्रसंग उसके इस प्रकार है—

(१) अन० ध० श्लोक ४-२४ मे हिंसा-अहिंसाके यथार्थ स्वरूपको स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि प्रमादी जीव दूसरोंके घातमे प्रवृत्त होकर स्वयं अपना घात करता है राग-द्वेषसे उपयुक्त होता हुआ संक्लिष्ट परिणामके वश अपनेको कर्मसे सम्बद्ध करता है, फिर चाहे अन्यका घात हो और कदाचित् न भी हो। वास्तवमे प्राणीके शत्रु राग-द्वेषादि कलुषित परिणाम ही हैं। इस प्रसंगमे वहाँ उसकी स्वो० टीकामे प्रसंगके अनुरूप प्रस्तुत 'समयसारकलश' के "**न कर्मबहुलं जगन्न**" इत्यादि पद्य (१६४) को उद्धृत किया गया है।

(२) आगे श्लोक ८-६ मे यह स्पष्ट किया गया है कि जीवका लक्षण भिन्न तथा जड कर्म व शरीर आदिका लक्षण भिन्न है, फिर भी अज्ञानताके वश जीव परस्परमें संयोगरूपताको प्राप्त उन दोनों जड़ व चेतनमे एकरूपता (अभिन्नता) को मानता है। इस प्रकार भेदविज्ञानके बिना वह अपनेको परका कर्ता और परार्थका भोक्ता मानता है। किन्तु निश्चयसे वह परका कर्ता-भोक्ता नही है। इस प्रसंगमे वहां उसकी टीकामे प्रसंगके

अनुरूप **"मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं"** इत्यादि पद्य (२०५) को उद्धृत किया गया है।

(३) यहींपर आगे श्लोक ८-१२ मे यह स्पष्ट किया गया है कि क्रोधादिरूप आस्रवोका निरोध (सवर) हो जानेसे उसका अविनाभावी उनसे भिन्न आत्माके भेदका ज्ञान प्रगट हो जाता है और तब उस भेद-विज्ञानसे बन्धका निरोध सिद्ध होता है। इस प्रकार बन्धका निरोध हो जानेसे अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है। उसकी टीकामे वहाँ उस भेदविज्ञानकी महिमाको प्रगट करते हुए समय० क०के **"भेद-विज्ञानतः सिद्धाः"** पद्य (१३१) को उद्धृत किया गया है।

(४) आगे श्लोक ८-४१ मे द्रव्यस्तवके स्वरूपका निर्देश किया गया है। इसमे लोकोत्तम तीर्थकरोका शरीर, चिन्ह और गुण आदिके आश्रयसे कीर्तन किया जाता है। निश्चयसे पुद्गलमय शरीरसे आत्माके भिन्न होने पर भी व्यवहारनयसे कथंचित् उनमे भेदको स्वीकार कर प्रकृत द्रव्यस्तव-को उपयोगी माना गया है (स० सार गा० २६-२८)। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी टीकामे कान्ति और दिव्यध्वनिके आश्रयसे किये जानेवाले स्तवन-को उक्त द्रव्यस्तवके अन्तर्गत मान वहाँ समय० क०के **'कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो'** आदि पद्य (२४) का उद्धृत किया गया है।

(५) आगे श्लोक ८-६४ मे भूत, वर्तमान और भविष्यत् कर्मोके प्रत्याख्यानको करके उनके फलसे निर्मुक्त होनेकी प्रेरणा की गई है। उस प्रसगमे वहाँ उसकी टीकामें समयसारकलशगत इन पद्योको उद्धृत किया गया है—

(१) कृत-कारितानुमननै	(स० क० २२५)
(२) मोहाद्यदहमकार्षं	(,, २२६)
(३) मोहविलासविजृम्भित	(,, २२७)
(४) प्रत्याख्याय भविष्यत्	(,, २२८)
(५) समस्तमित्येवमपास्य कर्म	(,, २२९)
(६) विगलन्तु कर्म-विषतरु	(,, २३०)
(७) निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्	(,, २३१)
(८) यः पूर्वभावकृतकर्मविष	(,, २३२)
(९) अत्यन्तं भावयित्वा	(,, २३३)

इस प्रकार निष्कर्मताके आलम्बनकी अपेक्षासे यहाँ अन० ध० की टीकामे प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानसे सम्बद्ध उपर्युक्त नौ

पद्योंको उसी क्रमसे उद्धृत किया गया है, जिस क्रमसे वे समयसार-कलश-में उपलब्ध होते हैं।

(६) आगे यहींपर इसी श्लोककी टीकामे, जैसा कि पूर्वमें **'समयसार'** के प्रसंगमे स्पष्ट किया जा चुका है, **समयसारसे 'कम्मं जं पुव्वकयं"** आदि दो गाथाओ (३८३-८४) को उद्धृत करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि कर्म जो शुभ-अशुभ अनेक प्रकारका है उस दोषका जो विचार करता है उसीको आलोचना जानना चाहिये तथा जो सदा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचनाको करता है वही चेतयिता उक्त दोषोंसे निवृत्त हो जानेके कारण स्वयं चारित्र है—वस्तुतः वह आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानसे भिन्न नही है, तत्स्वरूप ही है। इस प्रसंगमे वहाँ आगे **"ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं"** इस समयसार-कलश गत पद्य (२२४) को उद्धृत किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानके अनुभवनसे सदा अतिशय शुद्ध ज्ञान ही प्रकाशित होता है और इसके विपरीत अज्ञानके अनुभवनसे दौडता हुआ बन्ध ज्ञानकी विशुद्धिको रोकता है।

इसी प्रसगमे यहाँ आगे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इसका विशेष स्पष्टीकरण **ठक्कुर अमृतचन्द्र सूरिने अपनी समयसारकी टीका (आत्मख्याति) में किया है**, इसलिये जिज्ञासुओंको वहाँ उसे देखना चाहिये।

(७) आगे श्लोक ९-२९ मे निश्चय और व्यवहार नयोंमे सापेक्षभावको प्रगट करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मध्यानके बिना अन्य कुछ आचरण मुमुक्षुके अभीष्टको सिद्ध नही कर सकते हैं। आत्मध्यानके बिना उसका वह बाह्य अनुष्ठान इस प्रकारसे निरर्थक रहनेवाला है, जिस प्रकार कि निरन्तर शस्त्र चलानेके अभ्यासीका वह शस्त्र युद्धके समय रणभूमिमे कुण्ठित रहता है। इस प्रसंगको वहाँ उसकी टीकामे विशेष स्पष्ट करते हुए समयसारकलशके **"मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा"** आदि पद्य (१११) को उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया है जो ज्ञानकी यथार्थताको न जानकर केवल बाह्य क्रियाकाण्डका ही आश्रय लेते हैं वे जिस प्रकार संसार-समुद्रमे निमग्न रहते है उसी प्रकार वे भी उस संसार-समुद्रमें निमग्न रहनेवाले हैं जो केवल ज्ञाननयके पक्षपाती होकर स्वच्छन्द आचरण करते हुए महाव्रतादि अनुष्ठानके परिपालनमे शिथिल रहते हैं। वस्तुतः संसार-समुद्रसे तो वे ही तरते है—मुक्तिको प्राप्त करते हैं—जो निरन्तर ज्ञानका आराधन करते हुए कभी प्रमादके वश होकर हीन आचरण नहीं करते हैं।

इस प्रकार आशाधरने यथावसर प्रस्तुत समयसार-कलशके अनेक पद्योंको उद्धृत करके अपने धर्मामृतके कितने ही प्रसंगोंको पुष्ट किया है।

(२६) **आराधनासार**—यह ११५ गाथात्मक ग्रन्थ देवसेनाचार्यके द्वारा रचा गया है। जैसा कि ग्रन्थका नाम है, उसमें संक्षेपसे निश्चय और व्यवहारका आश्रय लेकर साररूपमे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंका वर्णन किया गया है, प्रमुखता वहाँ कषाय और शरीरके सलेखन (कृशीकरण) रूप समाधिमरणको प्राप्त हुई है। इसके लिये वहाँ क्षपकको लक्ष्य करके परिग्रह, इन्द्रियो एवं मन आदिके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी प्रेरणा की गई है। इसे शिवार्य विरचित विशाल **'भगवती आराधना'** का संक्षिप्त रूप समझना चाहिये। उक्त 'भगवती आराधना' पर तो आशाधरने 'मूलाराधना-दर्पण' नामकी टीका भी लिखी है, जो प्रायः अपराजित सूरि विरचित 'विजयोदया' टीकाका अनुसरण करती है—प्रस्तुत 'आराधनासार' पर भी उन्होने तदन्तर्गत गूढ़ पदोके अर्थको स्पष्ट करनेवाली टिप्पणस्वरूप पंजिका लिखी है, जो 'शान्तिवीरनगर श्रीमहावीरजी' से प्रकाशित है। आशाधरने प्रसगके अनुसार उसकी कुछ गाथाओंको लेकर अपने 'धर्मामृत' ग्रन्थमे उद्धृत किया है। यथा—

(१) अपने अन०ध० का उपसंहार करते हुए उन्होंने वहाँ श्लोक ९-९९ मे यह अभिप्राय प्रगट किया है कि मुनि हो या गृहस्थ हो, जो भक्तिपूर्वक यथाशक्ति नित्य व नैमित्तिकी क्रियाओका अनुष्ठान करता है वह देव-मनुष्योके उत्कृष्ट सुखको भोगकर कुछ ही भवोंमे मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामे 'यथोक्तं'के निर्देश-पूर्वक प्रकृत 'आराधनासार'की **"आराहिऊण केई"** आदि दो गाथाओं (१०८-९) को उद्धृत किया है। वहाँ टीकामे 'कतिपयैर्जन्मभिः' का अभि-प्राय कम-से-कम दो-तीन जन्म और अधिक-से-अधिक सात-आठ जन्म प्रगट किया गया है।

(२) आगे उक्त धर्मामृतके उत्तरभागभूत 'सागारधर्मामृत'मे भी माधक श्रावकके अनुष्ठानस्वरूप समाधिमरणके प्ररूपक अन्तिम (आठवें) अध्यायको समाप्त करते हुए उपसंहारस्वरूप श्लोक ८-११० मे यह अभि-प्राय प्रगट किया गया है कि शरीर और कषायके संलेखन—समाधिमरण—मे उद्यत श्रमण पचनमस्कारके स्मरणपूर्वक प्राणोका त्याग करके आठ जन्मों-के भीतर **शिवी** हो जाता है।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए उसकी स्वो० टीकामें उत्तम, मध्यम

और जघन्य आराधनाकी अपेक्षासे 'श्रमण' और 'शिवी' शब्दोंके पृथक् पृथक् तीन अर्थ किये हैं। तदनुसार उत्कृष्ट आराधक तो गुणस्थानके अनुसार सम्भव रत्नत्रयकी भावनासे निश्चयरत्नत्रयके अभ्याससे परिणत हुआ योगी अन्तिम समयवर्ती समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान-पर आरूढ होकर व प्राणोंको छोड़कर शिवी-मुक्त हो जाता है। उस समय उसकी 'श्रमण' सज्ञा समझना चाहिये। यह स्पष्टीकरण उत्कृष्ट क्षपकके आश्रयसे किया गया है।

मध्यम आराधनाके पक्षमें 'श्रमण' का अर्थ साधारण अनगार है। वह मुमुक्षु समाधिमरणमे उद्यत होकर समीचीन रत्नत्रयकी भावनासे परिणत होता हुआ प्राणोंके परित्यागपूर्वक शिवी हो जाता है—निश्चयरत्नत्रयके अभ्यासमे परिणत हुआ इन्द्रादि पदोंको प्राप्तिरूप अभ्युदयका भोक्ता होता है।

जघन्य आराधनाके विषयमे यह समझना चाहिये कि मोक्षका इच्छुक वह साधारण अनगार निर्यापकको आत्मसमर्पण करके यथासम्भव रत्नत्रय-के आराधनमे तत्पर रहता है। इस प्रकारसे वह पचनमस्कार मंत्रके स्मरण-पूर्वक प्राणोंका त्याग करके शिवी हो जाता है—आठ भवोंके भीतर मुक्त हो जाता है। अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट श्रावक अथवा सम्यग्दृष्टि जिनलिंगका धारक होकर यथायोग्य उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य आराधना-के अनुसार यथासम्भव आठ जन्मोंके भीतर शिव (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रसंगमे वहाँ टीकामे **'तथाह्यागमः'** इस प्रकार आगमवचनके रूपमे प्रकृत आराधनासारकी **"कालाइं लहिऊणं"** आदि तीन गाथाओ (१०७-९) को उद्धृत किया गया है।

आगे इसी प्रसंगमे इस टीकामे अन्य किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थसे **"येऽपि जघन्या तेजोलेश्या"** आदि एक तथा **"अथवा—ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण"** आदि अन्य पाँच श्लोकोंको उद्धृत कर कुछ थोड़े परिवर्तित रूपमे भी उसी अभिप्रायको स्पष्ट किया गया है।

२७. **दि० प्रा० पंचसंग्रह**—कर्मकी विविध अवस्थाओंका प्ररूपक यह एक महत्त्वपूर्ण विस्तृत कर्मग्रन्थ है। वह किसके द्वारा रचा गया है, यह अभी तक अनिश्चित ही बना हुआ है। उसमें जीवसमास, प्रकृतिसमु-त्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सत्तरी ये पाँच प्रकरण संगृहीत हैं। इसीसे सम्भवतः इसका नाम 'पंचसंग्रह' प्रसिद्ध हुआ है। समस्त गाथा-संख्या

उसकी १३०९ है, जिसमे मूल गाथायें ४४५ और भाष्यगाथा ८६४ मानी जाती हैं। ये पाँच प्रकरण किसी एकके ही द्वारा रचे गये हैं, अथवा अनेक ग्रन्थकारोंके द्वारा रचे जाकर पीछे किसीके द्वारा एक ग्रन्थके रूपमें संगृहीत कर लिये गये हों; यह सब अन्वेषणीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुका है।

वह सम्भवतः आशाधरके समक्ष रहा है और उन्होंने उससे प्रसंगानुरूप कुछ गाथाओको लेकर अपने 'धर्मामृत'मे उद्धृत किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक २-३९ की टीकामे '**क्रमेण तद्दृष्टान्तार्था गाथा यथा**' ऐसो सूचना करते हुए प्रकृतिबन्धके प्रसगमे ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियोकी प्रकृतिको दिग्दर्शक यह एक गाथा उद्धृत की गई है—

पड-पडिहारऽसि-मज्जा-हडि-चित्त-कुलालभंडयारीण।
जह एदेसि भावा तह कम्माणं वियाणाहि[1]॥ पंचसं० २-३.

(२) यहीपर आगे श्लोक २-६८ की टोकामें प्रसंगके अनुरूप सम्यग्दर्शनकी महिमाको प्रगट करनेवाली पंचसग्रहकी इस गाथाको उद्धृत किया गया है—

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीणं।
बारसमिच्छुववाए सम्माइट्ठी ण उववण्णा॥ गा० १-१९३.

पंचसंग्रहमे उपलब्ध इस गाथामे 'बारसमिच्छुववाए' सम्माइट्ठी ण उववण्णा'के स्थानमें 'बारस मिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो' ऐसा पाठभेद है।

वह धवला (पु० १, पृ० २०९) मे भी प्रसंगके अनुसार उद्धृत की गई उपलब्ध होती है। वहाँ भो उसमे पाठभेद रहा है, जो इस प्रकार है—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो॥

गो० जीवकाण्डमे वह १२७ गाथांकके रूपमे ग्रन्थका अग बन गई है। वहाँ पाठभेद इस प्रकार रहा है—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीण।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥ १२७.

इस प्रकार गाथाका पूर्वार्ध प्रायः सर्वत्र समान है, भेद उत्तरार्धमे ही हुआ है। इससे अभिप्रायमें भी कुछ भेद हुआ है।

---

१. यह गाथा गो० कर्मकाण्डमें भी गाथाक २१के रूपमें उपलब्ध होती है—

अमितगति-विरचित सं० पंचसंग्रहमे उक्त गाथागत अभिप्रायको इस प्रकारसे व्यक्त किया गया है—

निकायत्रितये पूर्वे श्वभ्रभूमिषु षट्स्वधः ।
वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते ॥ १-२९७, पृ० ३९.

इस प्रकार पचमग्रहगत उन गाथामे जो **'बारस मिच्छावादे'** पाठभेद रहा है व जिसे आशाधरने अन० ध० की टीकामे भी कुछ शब्दभेदके साथ उद्धृत किया है, वह उसकी प्राचीनतामें बाधक दिखता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पंचसंग्रह जिस रूपमें उपलब्ध है उस रूपमें वह सम्भवत. धवलाकारके भी समक्ष नही रहा।

आ० समन्तभद्रके द्वारा **"सम्यग्दर्शनशुद्धा"** आदि (रत्नक० ३५) पद्यके रूपमे उस प्रसंगमे जो अभिप्राय प्रगट किया गया है, सम्भव है समयकी दृष्टिसे वह अधिक प्राचीन हो। वहाँ अपर्याप्तोंके विषयमे कुछ संकेत नहीं किया गया है।

आगे श्लोक २-६९ में यह अभिप्राय प्रगट किया कि मिथ्यादृष्टि जीव आगमोपदिष्ट तत्त्वका तो श्रद्धान नही करता है और जो आगमनिर्दिष्ट नही है उस अतत्त्वका श्रद्धान करता है। इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ टीकामे आगमवचनके रूपमे **"मिच्छाइट्ठी जीवो"** आदि गाथाको उद्धृत किया गया है। यह गाथा प्रस्तुत पंचसंग्रहमे गाथाक १-१७० के रूपमे उपलब्ध होती है। वह गो० जीवकाण्ड (६५५) मे भी देखी जाती है। मूलमे यह गाथा कसायपाहुड (१०८) की हो सकती है।

२८ **गोम्मटसार**—उपर्युक्त 'पंचसंग्रह' के समान आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा विरचित यह भी एक महत्त्वपूर्ण उपयोगी कर्म-ग्रन्थ है। वह जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागोंमे विभक्त है। जीव-काण्डकी समस्त गाथा-संख्या ७३३ और कर्मकाण्डकी वह ९७० है। इसकी पूर्वोक्त पंचसंग्रहसे अत्यधिक समानता है। यही नही, पचासो गाथायें भी ऐसी हैं जो समानरूपमे इन दोनों ही ग्रन्थोमे उपलब्ध होती हैं[1]। गोम्मट-सारका रचनाकाल विक्रमकी ११वी शती सुनिश्चित है। किन्तु पंचसंग्रह-का रचनाकाल निश्चित नही है। इसलिये गोम्मटसारके कर्ताके समक्ष वह रहा या नही रहा, कुछ निश्चित कहा नहीं जा सकता।

आशाधरने अपने 'धर्मामृत' ग्रन्थकी स्वो० टीकामे प्रसंगके अनुसार कितनी ही गाथाओको उद्धृत किया है, जो प्रस्तुत गोम्मटसारके अतिरिक्त

१. इसके लिये 'षट्खण्डागम-परिशीलन' पृ० ३२०-२४ देखे जा सकते हैं।

षट्खण्डागम, पंचास्तिकाय और पूर्वोक्त पंचसंग्रह आदि अन्य अनेक ग्रन्थों-में भी प्राय: उसी रूपमे उपलब्ध होती हैं। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक २-३७ मे भावास्रवके प्रसंगमे "**विकहा तहा कसाया**" आदि गाथाको टीकामें उद्धृत किया गया है। वह गो० जीव-काण्डमें गाथांक ३४के रूपमे और पंचसंग्रहमें गाथा १-१५के रूपमें उपलब्ध होती है।

(२) श्लोक २-३९ में जो ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मप्रकृतियोंके स्वभावको प्रगट करते हुए टीकामें उदाहरणके रूपमे "**पडपडिहारऽसि-मज्जा**" आदि गाथा उद्धृत की गई है वह गो० कर्मकाण्डमे गाथाक २१के रूपमे और पंचसंग्रहमे वह गाथा २-३ के रूपमे उपलब्ध होती है।

(३) आगे श्लोक २,४६-४७ मे सम्यग्दर्शनकी उत्पादक सामग्रीका निर्देश किया गया है। उस प्रसगसे उसकी टीकामें "**खय-उवसमिय विसोही**" आदि गाथाको उद्धृत किया गया है। वह गो० जीवकाण्डमे गाथांक ६५०के रूपमे उपलब्ध होती है। उसे आ० वीरसेनने धवला १,९-८, ३ (पु० ६, पृ० १३९) मे उद्धृत किया है। इसके पूर्व वह 'भगवती आराधना'में गाथा २०७६ के रूपमे अवस्थित देखी जाती है। लब्धिसारमे वह गाथांक ३ के रूपमे ग्रन्थका अंश बन गई है।

(४) इसी प्रसंगमे आगे यहीपर 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामे '**चदुगदि-भव्वो सण्णी**' आदि गाथा उद्धृत की गई है वह गो० जीवकाण्डमे गाथाक ६५१के रूपमें उपलब्ध होती है। वही 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में गाथा ३०७ के रूपमे अवस्थित है।

(५) आगे श्लोक २-६९ मे यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि मिथ्या-दृष्टिजीव जिनोपदिष्ट यथार्थ तत्त्वका तो श्रद्धान नही करता है, किन्तु अनुपदिष्ट अतत्त्वको आगमोक्त तत्त्व मानकर उसपर विश्वास करता है। टीकामें प्रकृत प्रसंगको स्पष्ट करते हुए तदनुरूप "**मिच्छाइट्ठी जीवो**" आदि गाथाको उद्धृत किया गया है। वह गो० जीवकाण्डमे गाथांक १८के रूप-मे उपलब्ध होती है। मूलमें वह 'कसायपाहुड'की गाथा १०८ हो सकती श्वे० कर्मप्रकृतिमे भी वह उपशमनाकरणके अन्तर्गत गाथा १५के रूपमे उपलब्ध होती है।

(६) आगे श्लोक ३-६ में भावश्रुतके पर्याय-पर्यायसमास आदि २० भेदोंका निर्देश किया गया है। उस प्रसंगमें उसकी टीकामे 'तदुक्तं' कह-

कर "**सुहुमणिगोदमपज्जत्तयस्स**" आदि एक गाथाको उद्‌धृत किया गया है। वह गो० जीवकाण्डमे गाथाक ३१९ के रूपमें उपलब्ध होती है।

(७) श्लोक ४-२२ में हिंसाके स्वरूपका निर्देश किया गया है। उस प्रसंगमे वहाँ उसकी टीकामें '**त्रसक्षेत्रं यथा**' इस निर्देशके साथ "**उववाद-मारणंतिय**" आदि गाथाका उद्‌धृत किया गया है। वह गाथा जीवकाण्ड-मे गाथासंख्या १९८ के रूपमे उपलब्ध होती है।

(८) इसी प्रसंगमे आगे यहाँ '**निगोदलक्षणं यथा**' ऐसा निर्देश करते हुए टीकामे "**साहारणमाहारो**" आदि एक गाथा उद्‌धृत की गई है। वह गो० जीवकाण्डमें गाथांक १९१ के रूपमें ग्रन्थका अंग बन गई है। पंच-संग्रहमें भी वह गाथा १-८२ में रूपमें अवस्थित है। मूलमें वह षट्खण्डा-गममें गाथासूत्र ५,६,१२२ (पु० १४, पृ० १२६) के रूपमे उपलब्ध होती होती है। आचारागमे भी वह निर्युक्ति १३६ के रूपमे देखी जाती है।

२९ **चारित्रसार**—यह गंगवंशी राजा रायमलके मंत्री एव सेनापति तथा **गोम्मट जिन**—विश्वप्रसिद्ध बाहुबलीकी मूर्तिके निर्मापक व प्रति-ष्ठापक चामुण्डरायके द्वारा रचा गया है। वे नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके अतिशय भक्त रहे हैं। आ० नेमिचन्द्रने उनके घरेलू नाम '**गोम्मट**' पर अपने प्रसिद्ध गोम्मटसारकी रचना की है। प्रकृत 'चारित्रसार' मे प्रमुखता-से श्रावक और मुनिके आचारका निरूपण किया गया है। साथ ही प्रासंगिक ऋद्धि आदि अन्य भी कितने ही विषयोका वर्णन किया गया है। विषय-विवेचनमे उन्होने भट्टाकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थवार्तिकका बहुत कुछ आश्रय लिया है। तत्त्वार्थवार्तिकगत कुछ सन्दर्भोको तो उन्होने उसी रूपमें ग्रन्थका अंग बना लिया है। उदाहरणके रूपमे प्रायश्चित्त और आलोचनाके आकम्पित आदि दस दोषोंके प्रसंगको देखा जा सकता है। जैसे—

शब्दाकुलितदोष—पाक्षिक-चातुर्मासिक-सावत्सरिकेषु कर्मसु महति यतिसमवाये आलोचनशब्दाकुले पूर्वदोषकथन सप्तमः। त० वा० ९,२२,२.

यह प्रसंग जैसा-का-तैसा चारित्रसार (पृ० ६१) मे आत्मसात् कर लिया गया है। वहाँ मात्र 'सप्तमः' के स्थानमे 'शब्दाकुलित' इतना परिवर्तित हुआ है।

इसीप्रकार प्रायश्चित्तके भेद-प्रभेदादि (त० वा० ९,२२,१० व चारित्र-सार पृ० ६३-६४) अन्य भी अनेक प्रसगोंको देखा जा सकता है।

आशाधरने अपने धर्मामृतकी टीकामें यथाप्रसंग उसके सन्दर्भोंको उद्धृत किया है तथा कहीं-कहीं ग्रन्थके नामका भी निर्देश किया है। यथा—

(१) धर्मामृतके पूर्वभागभूत अन० ध० श्लोक ८-९१ में चैत्यादि भक्ति करते समय चारो दिशाओंमेंसे प्रत्येकमें घूमते हुए तीन आवर्तों और एक शिरोनतिका विधान किया गया है, तथा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इससे अधिक करनेमें कुछ दोष भी नहीं है। उस प्रसंगमें उसकी टीकामे उक्त अभिप्रायकी पुष्टिमें **चारित्रसार**के नामोल्लेख पूर्वक उसके अन्तर्गत इस प्रसंगको उद्धृत कर दिया गया है—

> एकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयैकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्ताश्चतस्त्र शिरोनतयो भवन्ति। आवर्तानां शिरःप्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमस्ति न दोषाय।

(२) आगे श्लोक ९-४५ की टीकामें यह स्पष्ट किया गया है कि जो '**चारित्रसार**' के मतानुसार क्रियाकाण्डका निरूपण करते हैं उनका कहना है कि चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन तीन भक्तियोंके आदिमें सिद्धभक्ति व अन्तमें शान्तिभक्ति करना चाहिये। इसकी पुष्टि क्रियाकाण्डके इस कथन द्वारा की गई है—

> सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पंचगुरुस्तुति।
> शान्तिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया॥

(३) श्लोक ९-४६ में कहा गया है कि धर्मव्यासंग आदिके कारण यदि चतुर्दशीकी क्रिया न की जा सके तो पक्षके अन्तमें अष्टमीक्रिया करना चाहिये। उसके प्रसंगमें टीकामें यह स्पष्ट किया गया है कि **चारित्रसार**में यह कहा गया है—

> चतुर्दशीदिने धर्मव्यासङ्गादिना क्रियां कर्तुं न शक्येत चेत् पाक्षिके अष्टम्या क्रिया कर्तव्या।

(४) आगे श्लोक ९-४७ में कहा गया है कि अष्टमीकी क्रिया सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति इन चारके द्वारा की जाती है, किन्तु पक्षके अन्तमें वह क्रिया श्रुतभक्तिको छोड़ शेष तीन भक्तियोंके द्वारा सम्पन्न की जाती है। इसकी पुष्टि टीकामें **चारित्रसार**के उल्लेखपूर्वक की गई है।

(५) आगे श्लोक ९, ५२-६६ में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणके समय सिद्धभक्ति आदि क्या क्या करना चाहिये, इसे सक्षेपमें स्पष्ट किया गया है। वहाँ स्वो० टीकामे **'तथा चोक्तं चारित्रसारे'** ऐसा निर्देश करते हुए तदन्तर्गत इस प्रसंगको प्रस्तुत किया गया है—

पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सारिकप्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमण-निष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थकरभक्तिचारित्रलोचनागुरुभक्तयो बृहदालोचना-गुरुभक्तिर्लघीयस्याचार्यस्याचार्यभक्तिश्च करणीया.।

(६) अन० ध० श्लोक ९-७५ मे आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेकी विधि निर्दिष्ट की गई है। उसका स्पष्टीकरण उसकी टीकामे **'यथोक्तं चारित्रसारे'** इस प्रकार ग्रन्थनाम निर्देशपूर्वक चारित्रसारके अन्तर्गत इस सन्दर्भके द्वारा किया गया है—

गुरूणामनुज्ञाया विज्ञान-वैराग्यसम्पन्नो विनीतो धर्मशील स्थिरश्च भूत्वाचार्यपदव्या योग्य. साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्तिं कृत्वाचार्यपदवी गृहीत्वा शान्तिभक्ति कुर्यात्।

(७) धर्मामृतके उत्तरभागभूत सा० ध० श्लोक ५-२० मे भोगोपभोग-परिमाणव्रतके सचित्त आदि पाँच अतिचारोका निर्देश किया गया है। वे सचित्त आदि अतिचार क्यो हैं, इसकी पुष्टि आशाधरने उसकी स्वो० टीकामे प्रकृत **'चारित्रसार'**के आश्रयसे की है। यथा—

चारित्रसारे पुन. सचित्ताद्याहारणमतिचारत्वोपपादनार्थमिदमुक्तम्—एतेषामाभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धि-वातादिप्रकोपो वा स्यात्। तत्प्रतीकारविधाने पापलेपो भवति। अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति।

(८) छठी रात्रिभक्तप्रतिमाके विषयमे दो मत रहे हैं—(१) रातमे स्त्रीसेवनका व्रत और (२) रातमें भोजनका व्रत। ये दोनो मत आशाधरके समक्ष रहे हैं। इसलिये उन्होंने सा० ध० श्लोक ७-१५ की उत्थानिकामें यह स्पष्ट किया है—

अधुना **चारित्रसाराविशास्त्रमतेन** रात्रिभक्तव्रतनिरुक्त्या लक्षयन् **रत्नकरण्डकादिप्रसिद्धं तदर्थं** कथयति।

उक्त श्लोककी टीकामे उसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है—क्व? इह अस्मिन् **चारित्रसाराविशास्त्रानुसारिणि ग्रन्थे** (चा० सा० पृ० १९)। कस्मात्? रात्रौ निशि स्त्रीसेवाया वर्तनात् रात्रौ भक्तं स्त्रीभजनं व्रतयति रात्रिभक्तव्रत

इति तच्छब्दस्य व्युत्पादनात्। अन्यत्र पुना **रत्नकरण्डकादि-शास्त्रे** 'रात्रिभक्त' शब्दो निरुच्यते—कस्मात्? रात्रौ चतुराहारवर्जनात् रात्री भक्त चतुर्विधमप्याहारं व्रतयति प्रत्याख्यातीति रात्रिभक्तव्रत इति तच्छब्दव्युत्पादनात्। अत्राह स्वामी रत्नक० १४२।

इसी प्रकारके अन्य भी कुछ प्रसंग देखे जा सकते हैं।

३० **द्रव्यसंग्रह**—जैसा कि ग्रन्थकी अन्तिम (५८) गाथासे स्पष्ट है। इसकी रचना नेमिचन्द्र मुनिके द्वारा की गई है। ये प्रसिद्ध गोम्मटसार ग्रन्थके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीसे भिन्न हैं। उक्त गाथामे उन्होंने अपनेको '**तणुसुत्तधर**'—अल्प श्रुतका धारक—कहकर ग्रन्थ-रचना विषयक अभिमानका निराकरण किया है। ग्रन्थगत समस्त गाथाओकी संख्या ५८ है। इसप्रकार ग्रन्थके संक्षिप्त होनेपर भी ग्रन्थकर्ताने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे उसमें जीव, पुद्गल आदि पाँच अजीव, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग और उसके साधनभूत ध्यानका हृदयग्राही विशद व्याख्यान किया है। आशाधरने प्रसंगके अनुसार 'धर्मामृत' में उसकी कुछ गाथाओंको उद्धृत कर अपने अभिप्रायको पुष्ट किया है। क्वचित् उन्होने आदरपूर्वक ग्रन्थनामका भी निर्देश कर दिया है। इसके लिये २-४ प्रसग यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) अन० ध० श्लोक १-१ में मंगलस्वरूप सिद्धोंका स्मरण करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि उन्होंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सयमके साथ निर्मल आत्मस्वरूपका ध्यान करके आठ कर्मोंको नष्ट करते हुए अनन्तज्ञान आदि अनुपम आठ गुणोंको प्राप्त किया है। इस प्रसंगको उसकी स्वो० टीकामें विशेष स्पष्ट करते हुए तदनुरूप प्रस्तुत द्रव्यसंग्रहकी "**रयणत्तयं ण वट्टइ**" आदि गाथा (४०) को उद्धृत किया है।

(२) आगे श्लोक २-३८ में बन्धके स्वरूपका निर्देश किया गया है। उसे विशद करते हुए उसकी स्वो० टीकामें आगमवचनके रूपमें भावबन्ध और द्रव्यबन्धकी प्ररूपक द्रव्यसंग्रहकी "**बज्झदि कम्मं जेण दु**" आदि गाथा (३२) को तथा उसीके आगे बन्धभेदोंकी निर्देशक "**पयडिट्ठिदि-अणुभागप्पदेसभेदा**" आदि दूसरी गाथा (३३) को भी उद्धृत किया गया है।

(३) आगे श्लोक २-४१ मे भावसंवर और द्रव्यसंवरके स्वरूपका निर्देश किया गया है। उसकी टीकामे उसे विशेष स्पष्ट करते हुए भाव-

संवरभेदोंकी निदर्शक द्रव्यसंग्रहकी "वद-समिदीगुत्तीओ" आदि गाथा (३५) को उद्धृत किया गया है।

(४) श्लोक २-४४ मे भावमोक्ष और द्रव्यमोक्षके स्वरूपको प्रगट किया गया है। उस प्रसंगमे उसकी टीकामे 'द्रव्यसंग्रहेऽप्युक्त' इस निर्देशके साथ प्रसंगके अनुरूप द्रव्यसंग्रहकी "सव्वस्स कम्मणो जो" आदि गाथा (३७) को उद्धृत किया गया है।

(५) आ० श्लोक ४-२२ मे हिंसाके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है। उसकी टीकामे प्रसग प्राप्त त्रस-स्थावर जीवोंके द्रव्य-भाव प्राणोंके विशदीकरणमे 'इमे च जीवसमासाश्चतुर्दश' इस सूचनाके साथ द्रव्यसग्रहकी चौदह जीवसमासोकी निर्देशक "समणा अमणा णेया" आदि गाथा (१२) को उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार आशाधरने प्रसंग प्राप्त विषयका व्याख्यान करते हुए उसे प्रस्तुत द्रव्यसग्रहको आगमका महत्त्व देकर यथा प्रसंग उसके अन्तर्गत गाथाओ द्वारा पुष्ट किया है।

३१ **परीक्षामुख**—आ० माणिक्यनन्दि विरचित यह एक न्यायशास्त्रका सूत्रात्मक सक्षिप्त ग्रन्थ है। वह विषयके अनुरूप छह समुद्देशोमे विभक्त है। समस्त सूत्रसंख्या उसकी २०७ (=१३ + १२ + ९६ + ९ + ३ + ७४) है। इसके ऊपर आ० प्रभाचन्द्रके द्वारा 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' नामकी विस्तृत टीका लिखी गई है, जो स्वतंत्र ग्रन्थ जैसा बन गई है। उसके 'निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बईसे दो संस्करण निकल चुके है। अपेक्षाकृत सक्षिप्त टीका उक्त 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड'के आधार पर अनन्तवीर्यके द्वारा भी 'प्रमेयरत्नमाला'के नामसे की गई है। उसके भी अनेक संस्करण निकल चुके है। इन टीकाओसे समन्वित प्रस्तुत ग्रन्थ आशाधरके समय रहा है व उन्होने अपनी ग्रन्थरचनामे उसका उपयोग किया है। उदाहरणके रूपमे उसका एक प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

अन० ध० श्लोक २-२३ मे कहा गया है कि जिस भव्य जीवने युक्तिसे अनुगृहीत आप्तवचन (आगम) के द्वारा सत्-असदात्मक अनन्त धर्मोंसे युक्त पदार्थोंको नयविवक्षाके अनुसार जान लिया है वही अभ्यन्तर अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करता है। टीकामें प्रसगको स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत परीक्षामुखके "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" इस सूत्र (३-९९) को उद्धृत कर उसके द्वारा अपने अभिधेयको पुष्ट किया गया है।

३२ **चन्द्रप्रभ-चरित**—वीरनन्दि-विरचित यह एक १८ सर्गात्मक महाकाव्य है। जैसा कि ग्रन्थ-प्रशस्तिसे ज्ञात होता है, अभयनन्दीके शिष्य वीरनन्दी चामुण्डरायके समकालीन इन्द्रनन्दी और गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरुभाई रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमे प्रमुखतासे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनका चरित वर्णित है। फिर भी प्रसंग पाकर जहाँ तहाँ अन्य भी चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोगसे सम्बन्धित विषयोकी प्ररूपणा की गई है। आशाधरने यथावसर प्रसंगके अनुरूप उसके पद्योंको अपने ग्रन्थोंमें उद्‌धृत किया है। जैसे —

(१) सा० ध० श्लोक १-११ की 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामे 'कृतज्ञता' को स्पष्ट करते हुए उसको पुष्टिमें प्रस्तुत चन्द्रप्रभचरितके इस पद्यको उद्‌धृत किया है—

> विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपेहि पारम् ।
> गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥
>
> —चन्द्रप्र० ४,३८.

प्रसंग—यहाँ श्रीषेण राजा जिन-दीक्षा ग्रहणके उन्मुख होकर अपने पुत्र श्रीवर्मा (भावी तीर्थंकर) को धर्म व राजनीतिकी शिक्षा देता हुआ समझा रहा है कि अपने हितैषी जनोंसे अनुराग करना और उनके द्वारा किये गये उपकारको मानना। इस प्रकारसे अभीष्ट विभूतियोंके स्वामी रहोगे, क्योंकि इसके विपरीत कृतघ्न मनुष्य समस्त बन्धु-बान्धवोंको उद्विग्न किया करता है, जिससे वह सदा दुखी रहता है।

(२) इष्टोपदेश श्लोक १७ में कामभागोको कष्टकारिताको प्रगट किया गया है। उसकी टोकामे इस प्रसगको स्पष्ट करते हुए टीकाकार आशाधरने प्रस्तुत चन्द्रप्रभचरितके प्रसगानुरूप इस श्लोकको उद्‌धृत कर उसके द्वारा उसे पुष्ट किया है—

> दहनस्तृण-काष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।
> न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥ १-७२.

३३ **सं० पंचसंग्रह**—इसके रचयिता आ० अमितगति (द्वितीय) हैं। इसे रचकर उन्होंने वि० संवत् १०७२ मे समाप्त किया है। इसमे बन्धक (जीव), बध्यमान (कर्म), बन्धके स्वामी, बन्धके कारण और बन्धके भेद इन पाँचकी प्ररूपणा की गई है। इससे उसका 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नाम ही रहा है। वह प्रा० पंचसंग्रह और लड्ढाके पंचसंग्रहसे प्रमाणित

रहा दिखता है। मूलरूपमे वह 'मा० दि० जैन ग्रन्थमाला' से प्रकाशित है। वह आशाधरके समक्ष रहा है व उन्होने अपनी ग्रन्थ-रचनामें उसका यथेष्ट उपयोग भी किया है। इसे स्पष्ट करनेके लिये यहाँ एक-दो प्रसङ्गोको प्रस्तुत किया जाता है—

(१) अन० ध० श्लोक २, ४६-४७ मे सम्यक्त्वकी उत्पादक सामग्रीका निर्देश किया गया है। उसकी 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामें प्रसंगप्राप्त वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक इनके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए तदन्तर्गत इस श्लोक-को उद्धृत किया गया है—

वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूना वर्गणोदिता।
वर्गणाना समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहै ॥

—पंचसं० १-४५, पृ० ६

(२)श्लोक ३-५ में श्रुतके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए उसकी टीकामें इस श्लोकका उद्धृत किया गया है—

मतिपूर्वं श्रुत दक्षैरुपचारान्मतिर्मता।
मतिपूर्वं तत सर्वं श्रुत ज्ञेय विचक्षणै.॥

पचसं० १-२१८, पृ० २८.

(३) अन० ध० श्लोक ४-१७८ मे संयमके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसके संरक्षणकी प्रेरणा की गई है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी टीकामे "**व्रतदण्ड-कषायाक्ष**" इत्यादि प्रस्तुत पंचसग्रहगत श्लोक (१-२३८,पृ०३०) को उद्धृत किया गया है।

(४) आगे श्लोक ४-१७३ में सामायिकसयममें दोष उत्पन्न होनेपर छेदोपस्थापनाका विधान किया गया है। उसकी टीकामे उसे विशेष स्पष्ट करते हुए "**व्रतानां छेदनं कृत्वा**" इत्यादि पंचसंग्रहगत श्लोक (१-२४०, पृ० ३०) को उद्धृत किया गया है।

२४ **अमितगति-श्रावकाचार**—आ० अमितगति विरचित श्रावकाचारका धर्मामृत—विशेषकर सागारधर्मामृत—की रचनामे उपयोग किया जाना सम्भव है। किन्तु ग्रन्थ सामने न रहनेसे उसके विषयमे विशेष कुछ स्पष्ट नही किया जा सकता है। फिर भी एक प्रसंग उसका यहाँ ज्ञानार्णव की प्रस्तावना (पृ० ४४) के आधारसे उपस्थित किया जाता है—

अन० ध० श्लोक २-९५ मे ऐसे सात मिथ्यादृष्टियोका उल्लेख किया गया है, जो सिद्धि (मुक्ति)के साधनभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन

तीनमे तीनोंको, दो-दोको और एक-एकको नही मानते हैं। उस प्रसंगमें वहाँ टोकामे 'उक्त च'के निर्देशपूर्वक अमितगति-श्रावकाचारके इस श्लोक-को उद्धृत किया गया है—

एकैकं न त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रिधा।
एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः॥ २-२६.

इसके समकक्ष एक श्लोक ज्ञानार्णवमें भी इस प्रकार रहा है, जो अ० श्रावकाचारके उक्त श्लोकसे प्रभावित हो सकता है—

एकैकं च त्रिभिर्नेष्टं द्वे द्वे नेष्टे तथापरैः।
त्रय न रुचयेऽन्यस्य सप्तैते दुर्दृश स्मृता॥ ४-२६ (३१२)

३५ **द्वात्रिंशिका**—पूर्वोक्त आ० अमितगतिके द्वारा एक ३२ पद्यात्मक संक्षिप्त सामायिक पाठ भी रचा गया है, जो 'द्वात्रिंशिका'के नामसे प्रसिद्ध है। वह सरल व सुबोध रोचक संस्कृत-पद्योंमे रचा गया है जो भेदविज्ञान-का प्रेरक होकर आत्मशान्तिका कारण है। आशाधरने उसका भी उपयोग किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक ४-१७४ मे संयमकी विराधनासे होनेवाले अनर्थकी सूचना की गई है। उसकी टीकामे प्रसंगप्राप्त अतिक्रम-व्यतिक्रम आदिके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है, जिसकी पुष्टि प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाके "**क्षति मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं**" आदि पद्य (९) को उद्धृतकर उसके द्वारा की गई है।

(२) आगे अन० ध० श्लोक ८-५७ में प्रतिक्रमके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसके दैवसिक आदि छह व प्रकारान्तरसे तीन भेदोका भी उल्लेख किया गया है। उनको स्पष्ट करते हुए उसकी टीकामे यह कहा गया है कि मन, वचन और कायके द्वारा कृत अपराधकी निन्दा, गर्हा और आलोचना की जाती है, यह भी प्रतिक्रमण है जो तीन प्रकारका भी सम्भव है। इसकी पुष्टिमे वहाँ इस 'द्वात्रिंशिका'के "**विनिन्दनालोचन-गर्हणैरहं**" आदि पद्य (७) को उद्धृत किया गया है।

३६ **उपासकाध्ययन**—सोमदेवसूरि विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' एक सुप्रसिद्ध काव्यग्रन्थ है जो आठ आश्वासोंमें विभक्त है। उनमें प्रथम पाँच आश्वासोमे यशोधर राजाका जीवनवृत्त प्ररूपित है, आगेके तीन आश्वासोमे प्रसंगवश श्रावकाचारको प्ररूपणा की गई है। ये तीन आश्वास '**उपासकाध्ययन**'के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह उसका नाम सार्थक ही है, क्योंकि

उसमें उपासको—श्रमणोकी उपासना करनेवाले श्रावकोंके अनुष्ठानकी प्ररूपणा गई है।[1]

उक्त समस्त 'यशस्तिलकचम्पू' पूर्वमें निर्णयसागरमुद्रणालय बम्बईसे दो खण्डोमें क्रमसे ई० सन् १९०१-१९०३ में प्रकाशित हो चुका है। तत्पश्चात् उसके वे तीन अन्तिम आश्वास 'उपासकाध्ययन'के नामसे ई० सन् १९६४ मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।

प्रस्तुत उपासकाध्ययनमे प्ररूपित श्रावकाचारका प्रभाव आशाधरके धर्मामृत—विशेषकर सागारधर्मामृत—की रचनामे अत्यधिक दृष्टिगोचर होता है। वह आशाधरके समक्ष रहा है व उन्होने उसका उपयोग अपने सागारधर्मामृतकी रचनामे विशेष रूपसे किया है।

यह विशेष स्मरणीय है कि आशाधरने अपने समयमे उपलब्ध दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोके समस्त श्रावकाचारोका गम्भीर अध्ययन करके, अपने सागारधर्मामृतको रचना की है। इसके लिये उन्होने यथावसर कहीं-कहीं ग्रन्थ व ग्रन्थकारके नामका भी निर्देश किया है। किन्तु अधिकतर उन्होने उन ग्रन्थोमेसे प्रसंगके अनुरूप वाक्योंको लेकर 'उक्त च' आदिके निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। उन अवतरणवाक्योका उपयोग उन्होने कहींपर आचार्यपरम्पराके प्रदर्शन, कही अपने अभिप्रायकी पुष्टि और कहीं मतभेदके प्रदर्शनमे भी किया है। इस प्रामाणिक कार्यको करते हुए उन्होने आ० जिनसेन विरचित महापुराण, प्रकृत उपासकाध्ययन और वसुनन्दि-श्रावकाचारको विशेष महत्त्व दिया है। ऐसा करते हुए भी उन्होंने प्रसंगके अनुसार स्वामिसमन्तभद्र, पुरुषार्थसिद्धयुपायके रचयिता अमृतचन्द्रसूरि और चारित्रसारके कर्ता चामुण्डराय आदिके मतको भी स्पष्ट कर दिया है। उदाहरणस्वरूप मूलगुणविषयक प्रसंगको ले लीजिये—

सागारधर्मामृतमे श्रावकोंके आठ मूलगुणोंके विषयमें ३-४ मत उपलब्ध होते है। सर्वप्रथम वहाँ श्लोक २-२मे सम्यक्त्वपूर्वक मद्य, मांस, मधु, और पीपल आदि पाँच क्षीरफलोंके परित्यागको आठ मूलगुण कहा गया है। आगे श्लोक २-३ व उसकी टीकामे यह स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व श्लोकमें निर्दिष्ट उन आठ मूलगुणोको उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोका अनुसरण करनेवाले ग्रन्थकारोने अनुष्ठेय कहा है।

---

१ इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥ यशस्ति०—३, पृ० २६६.

स्वामी समन्तभद्रके मतानुसार पूर्वोक्त मद्य, मांस और मधुके परित्यागपूर्वक पाँच स्थूल हिंसा आदि पापोके त्यागको आठ मूलगुण माना गया है, (रत्नक० ६६)।

महापुराण (जिनसेनाचार्य)मे मद्य, मास और द्यूतके त्यागके साथ पाँच अणुव्रताके परिपालनको आठ मूलगुण कहा गया है।

यह यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोके उल्लेखपूर्वक जिन आठ मूलगुणोंको अनुष्ठेय कहा गया है वे ही आठ मूलगुण पुरुषार्थसिद्धयुपायके कर्ता अमृतचन्द्र सूरिको भी अभीष्ट रहे हैं (पु० सि० ६१)। किन्तु इस मतभेदके प्रसगमे आशाधरने उपासकाध्ययनमे निर्दिष्ट उस मतको ग्रन्थोल्लेखपूर्वक प्रथम स्थान दिया है (श्लोक २-२)। किन्तु उसी मतके प्ररूपक अमृतचन्द्र सूरिका उन्होने कुछ उल्लेख नही किया।[1]

इस मतभेद-प्रदर्शनको आगे भोगोपभोगपरिमाणव्रत (५-२०) आदिके प्रसगमे भी देखा जा सकता है।

इतनी प्रासंगिक चर्चा करके अब आगे यह स्पष्ट किया जाता है कि आशाधरने अपने सागारधर्मामृतकी रचनामे प्रस्तुत उपासकाध्ययनका कहाँ कितना आश्रय लिया है। इसके लिये उदाहरणस्वरूप कुछ प्रसगोंको प्रस्तुत किया जाता है—

(१) सा० ध० श्लोक १-६मे सम्यक्त्वके प्रादुर्भावकी सामग्री इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है—

आसन्नभव्यताकर्महानि-संज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ १-६

यह उपासकाध्ययनमे उद्धृत निम्न श्लोकपर आधारित है—

आसन्नभव्यता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योपदेशकादिश्च ॥ उपास० २२४

अर्थकी अपेक्षा तो इन दोनोंमें समानता है हो, साथ ही दोनोंका पूर्वार्ध शब्दश भी समान है।

(२) सा० ध० श्लोक २-५मे मद्यव्रतीके रूपमे धूर्तिल नामक चोरका और मद्यपायीके रूपमे एकपात् नामके संन्यासीका उदाहरण दिया गया है। इन दोनोका कथानक उपासकाध्ययनमे पृ० १३१-३३ (धूर्तिल) और पृ० १३०-३१ (एकपात्) में उपलब्ध होता है।

---

१ मूलगुणविषयक चौथा मतभेद सा० ध० श्लोक २-१८में द्रष्टव्य है।

(३) आगे सा० ध० श्लोक २-९मे मासभक्षी **सौरसेन** राजाका और उससे विरत हुए **चण्ड** नामक मातंग व **खदिरसार** नामक भीलोके राजाका उदाहरण दिया गया है। इनमे सौरसेनका कथानक उपास० पृ० १४०-४२ और चण्ड मातंगका कथानक पृ० १४२मे उपलब्ध होता है।

ये उदाहरण सम्भवत. उपासकाध्ययनसे लेकर ही सा० ध०मे निबद्ध किये गये है। कुछ ऐसे भी प्रसंग द्रष्टव्य हैं जो प्रकृत उपासकाध्ययनसे विशेष प्रभावित रहे है—

(४) सोमदेव सूरिके समयमे भी मुनियोमे शिथिलाचारपूर्ण प्रवृत्ति रही है। उसे देखते हुए दोनो ग्रन्थोमे समान रूपमे यह विधान किया गया है—

यथा पूज्या जिनेन्द्राणा रूपं लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयता.॥ उपास० ७९७.
विन्यस्यैदयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुत' श्रेयोऽतिचर्चिनाम्॥ सा० ध० ३-६४

(५) उपास० मे उदाहरणपूर्वक साकल्पिक हिंसाके प्रसगमे यह कहा गया है—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
निशाया वर्जयेद् भुक्तिमिहामुन्न च दु.खदाम्॥

उपा० ३२५

अघ्नन्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षको॥ उपास० ३४१

इससे प्रभावित सा० ध०के इस श्लोकको देखिये—

आरम्भेऽपि सदा हिसा सुधीः साकल्पिकी त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै.पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥ सा० ध० २-८२

(६) रात्रिभोजनके विषयमे इन दोनो ग्रन्थोमे समान रूपसे यह कहा गया है—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत्॥ सा० ध० ४-२४.

(उत्त० गो० ८)

(७) अन्तरायोके प्रसंगमे दोनो ग्रन्थोंका समान अभिप्राय—

अतिप्रसंगहानाय तपसः परिवृद्धये।
अन्तराया. स्मृताः सद्भिर्व्रत-बीजविनिर्मिक्रयाः॥ उपास० ३२४.

अतिप्रसंगमसितुं परिवर्धयितुं तपः ।
व्रत-बीजवृतीभुक्तेरन्तरान् गृही श्रयेत् ।। सा० ध० ४-३०

ये कुछ उदाहरण यहाँ दिये गये है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आशाधरने प्रस्तुत उपासकाध्ययनगत अनेक प्रसंगोको लेकर उनका उपयोग सा० ध० की रचनामे किया है। इस प्रकारके अन्य बहुतसे प्रसंगोंको दिखाया जा सकता है, जिनमे संक्षेपसे कुछका एक दृष्टिमे इस प्रकार लिया जा सकता है—

उपास०	प्रसंग सा० ध०
२७० मद्य-मांस-मधुत्यागा	मद्य-मांस-मधून्युज्झेत् २-२
२७५ मद्यैकबिन्दुसम्पन्नाः	यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाः २-४
२९६ अश्वत्थोदुम्बरप्लक्ष	पिप्पलोदुम्बरप्लक्ष २-१३
३१४ अणुव्रतानि पञ्चैव	पञ्चधाणुव्रतं त्रेधा ४-४
७६५ यथाविधि यथोद्देशं	पात्रागमविधिद्रव्य २-४८
८०८ समयी साधकः साधुः	समयिक-साधक-समय २-५१
४८० सर्व एव हि जैनानां	(ज्ञा० दी० पंजिकामे उद्धृत) २-५८
८२१ दैवाल्लब्धं धनं धन्यैः	दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः २-६३
८१८ भुक्तिमात्रप्रदाने हि	(ज्ञा०दी० पंजिका २-६४मे उद्धृत)
७९६ काले कलौ चले चित्ते	(,, ,,)
८५६ षडत्र गृहिणो ज्ञेया	दार्शनिकोऽथ व्रतिकः (३,२-३के अन्तर्गत)
८३४-३५ अभिमानस्य रक्षार्थं	अभिमानावने गृद्धि ८,३५-३६
३८३ असत्यं सत्यगं किंचित्	असत्य''''सत्यगं ८-४२ (८,४०-४३)

(आगे पृ० १७५-७६का गद्यभाग द्रष्टव्य है)

४३२ ममेदमिति संकल्पो	ममेदमिति संकल्पश्चिस ४-५९
७६३ दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य	सचित्तं तेन सम्बद्धं ५-२०
७७७ प्रतिग्रहोच्चासन	प्रतिग्रहोच्चस्थाङ्घ्रि ५-४५
७७८ श्रद्धा-तुष्टिर्भक्ति-	भक्ति-श्रद्धा-सत्त्व-तुष्टि ५-४७ (तृ० चरण)
८३० अतिथेय यत्र	(सागारधर्मामृत
८२८ यदात्मवर्णनप्राय	श्लोक ५-४७की
८२९ पात्रापात्रसमावेक्ष [क्ष्य]	भ० कु० च० टीकामे

८३१ उत्तमं सात्त्विकं दानं 'तदुक्तं'के साथ उद्धृत)

(८) उपासकाध्ययनमे चार शिक्षाव्रतोंमे प्रथम सामायिकके प्रसंगमे 'स्नपन' आदि अनेक अनुष्ठानोकी विशदतापूर्वक विस्तारसे प्ररूपणा की गई है। उपास० ४५९-७४९, पृ० २१२-८७.

उधर सागारधर्मामृतमें उक्त सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए यह एक श्लोक प्राप्त होता है—

स्नपनार्चा-स्तुति-जपान् साम्यार्थ प्रतिमार्पिते ।
युञ्ज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति ।। ५-३१

इसकी व्याख्या करते हुए स्वो० टीकामे उसे इस प्रकारसे स्पष्ट किया गया है—

"अचमिदयो ज्ञानदीपिकायामत्र च प्राग्यथास्थान व्याख्याताः।" कथम् ? यथाम्नाय उपासकाध्ययनाद्यागमातिक्रमेण ।

इस प्रकारसे यहाँ प्रस्तुत **उपासकाध्ययनको आगमका महत्त्व देकर** यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि प्रसगप्राप्त स्नपन आदिका व्याख्यान पूर्वमे किया जा चुका है तथा आगे ***"आश्रुत्य स्नपन विशोध्य तदिलां"*** आदि श्लोक (६-२२)मे किया जानेवाला है।[1]

इस प्रकारसे आशाधरने प्रस्तावना, पुरा, कर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल इस छह प्रकारको देवसेवा (उपासकाध्ययन श्लोक ५२९) का आगे-पीछे यहीपर और विशेषकर 'ज्ञानदीपिका' पजिकामे वर्णन किया है। यह भी स्मरणीय है कि उनकी कृतियोमे 'जिनयज्ञकल्प' (प्रतिष्ठाशास्त्र) व 'नित्यमहोद्योत' आदि ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

यहीपर टीकामे आशाधरने अपने उपर्युक्त अभिप्रायको स्वय भी इस प्रकारसे व्यक्त कर दिया है—

एतज्जिनस्नपनादिविधानसूचनामात्र विस्तरतस्त्वेतत्पूर्वाचार्यकृतस्नानशास्त्रेष्वस्मत्कृतनित्यमहोदयाख्यस्नानशास्त्रे च द्रष्टव्यम्। सा० आ० टीका ६-२२.

आशाधरने कितने ही प्रसंगापर सा० ध०की स्वो० टीकामे उपासकाध्ययन, यशस्तिलक और सोमदेव पण्डित इन नामोंका भी उल्लेख किया है। जैसे—

१. इस श्लोक (६-२२)की समस्त स्वो० टीका विशेष पठनीय है।

(१) सा० ध० श्लोक २-३की टीकामें—**उपासकाध्ययनादिशास्त्रानुसारिभिः** पूर्वमनुष्ठेतयोपदिष्टान् (उपास० श्लोक २७०)।

(२) "यत्तु मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम्। मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥ ३८१" इति **यशस्तिलके** अतिचारान्तरवचनं तत्परेऽप्यूह्यास्तथात्यया इत्यनेन संगृहीतं प्रतिपत्तव्यम्। सा० ध० टीका ४-४५.

(३) सोमदेवपण्डितस्तु माननयूनाधिकत्वेन द्वावतीचारौ मन्यमान इदमाह—"मानवन्न्यूनतावन्यूनताधिक्ये... ॥ ३७० सा० ध० स्वो० टीका ४-५०

(४) तदाह **सोमदेवपण्डितः**--"वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा...। ४०५" सा० ध० टीका ४-५२

(५) **सोमदेवपण्डितस्त्वेवमाह** —"कृतप्रमाणो लोभेन" ॥ ४४४" सा० ध० ४-६४

(६) तद्वच्चेमेऽपि सोमदेवबुधाभिमताः—"दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य ७६३"। सा० ध० टीका ५-२०

(७) अन० ध० श्लोक ९,८०-८१ 'आचेलक्य' आदि दस प्रकारके स्थितिकल्पका निर्देश किया गया है।[1] उसके प्रसंगमे आचेलक्य (नग्नता)के महत्त्वको स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामे **सोमदेवाचार्यके** नामोल्लेख पूर्वक इन दो श्लोकोको उद्धृत किया गया है—

नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिना भवेत्।
ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिन-वाससाम् ॥
विकारे विदुषां दोषो नाविकारानुवर्तने।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥

---

१. प्रकृत 'आचेलक्य'आदि दस प्रकारके स्थितिकल्पका उल्लेख 'भगवती आराधना' गाथा ४२१में किया गया है। उसकी टीका 'विजयोदया'मे अपराजित सूरिने प्रथम 'आचेलक्य' कल्पका विवेचन करते हुए आचाराग सूत्र, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक आदि अनेक श्वे० आगम ग्रन्थोके आधारसे उस आचेलक्य-को प्रतिष्ठापित किया है। उसीका अनुसरण आशाधरने भी अपनी 'मूलाराधना दर्पण' नामकी टीकामें किया है। यह स्मरणीय है कि अपराजित सूरि श्वे० आगमग्रन्थोंके तलस्पर्शी विद्वान् रहे हैं। 'दशवैकालिक'पर भी उनकी 'विजयोदया' टीका है।

इस प्रकार सागारधर्मामृतपर प्रस्तुत उपासकाध्ययनका सर्वाधिक प्रभाव रहा दिखता है।

३७ **ज्ञानार्णव**–इसका दूसरा नाम **ध्यानशास्त्र** भी है। प्रत्येक प्रकरण-के अन्तिम पुष्पिकावाक्यमे इसका निर्देश '**योगप्रदीपाधिकार**'के रूपमे भी किया गया है। आ० शुभचन्द्र विरचित इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमे प्रमुखतासे तो ध्यानका वर्णन किया गया, फिर भी प्रसंगवश उसमे व्रत-संयम एवं प्राणायाम आदि अन्य भी अनेक विषयोका विवेचन किया गया है। इसके २-३ संस्करण रायचन्द्र जैन शास्त्रमालाके द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। उसका एक नया संस्करण संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना व कुछ परिशिष्टोके साथ जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला।) सोलापुरसे भी प्रकाशित हुआ है।

आशाधरके समक्ष यह ग्रन्थ रहा है व उन्होने यथावसर अपनी ग्रन्थ-रचनामे उसका उपयोग भी किया है। जैसे—

(१) अन० ध० श्लोक ४-१५६ मे मनोगुप्तिके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए उस प्रसंगमे उसकी टीकामे ज्ञानार्णवके प्रसंगानुरूप इन दो श्लोकोको उद्धृत किया है—

विहाय सर्वसंकल्पान् ज्ञान० १८-१५, पृ ३०२।

सिद्धान्तसूत्रविन्यासे १८-१६, पृ ३०३।

यही पर आगे वाग्गुप्तिके स्वरूपके प्ररूपक "साधु **संवृत्तवाग्वृत्तेः**" इत्यादि श्लोक (१८-१७) को भी ज्ञानार्णवसे उद्धृत किया गया है।

आगे कायगुप्तिके स्वरूपके निर्देशक "**स्थिरीकृतशरीरस्य**" इत्यादि श्लोक (१८-१८) भी उक्त ज्ञानार्णव से उद्धृत किया गया है।

(२) श्लोक ९, २२-२३ मे वन्दनाके प्रसंगमे-जिनमुद्रासे हृदय-कमलमे वायुके साथ मनको रोककर ध्यान करनेकी प्रेरणा की गई है। उसे स्पष्ट करते हुए टीकामे ज्ञानार्णवसे इन दो श्लोकोको उद्धृत किया गया है—

शनैः शनैर्मनोऽजस्रं ज्ञानार्णव २६-५०, पृ० ४६०।

विकल्पा न प्रसूयन्ते २६-५१, ४६१।

(३) इससे आगे इसी प्रसंगमे एक इस तीसरे श्लोकको भी उद्धृत किया गया है—

स्थिरीभवन्ति चेतांसि [तेजांसि] ज्ञानार्णव २६-५४,

(४) यहींपर आगे इस एक अन्य श्लोकको भी उद्धृत किया गया है— **स्मरगरलमनोविजय** [विषय] ज्ञानार्णव २६-१४०,

३८ **तत्त्वानुशासन**—रामसेनाचार्य विरचित यह एक प्रमुखतासे ध्यानका प्ररूपक सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ है। सर्वप्रथम इसमे हेय-उपादेयका विचार करते हुए संक्षेपमे, बन्ध, मोक्ष व उनके कारणोंका विवेचन किया गया है। पश्चात् मोक्षमार्गके निश्चय और व्यवहार इन दो भेदोंके निर्देश पूर्वक निश्चयमोक्षमार्गको साध्य और व्यवहारमोक्षमार्गको साधक कहा गया है। तत्पश्चात् यह स्पष्ट किया गया है कि वह दोनों ही प्रकारका मोक्षमार्ग ध्यानमे सिद्ध किया जाता है, अत मुमुक्षुजनको उस ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार उन्हें ध्यानमे सलग्न करते हुए आर्त और रौद्र इन दो दुर्ध्यानोंको छोडकर धर्म और शुक्ल स्वरूप दो प्रशस्त ध्यानोमे अधिष्ठित होनेकी प्रेरणा की गई है। तदनुसार यहा उस ध्यानके निरूपणकी प्रतिज्ञा की गई है। ग्रन्थगत समस्त पद्योंकी संख्या २५९ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आशाधरके समक्ष रहा है व उन्होने यथावसर अपनी ग्रन्थरचनामे उसका उपयोग भी किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक ९-७ मे कहा गया है कि योगी योगनिद्रासे थकावटको दूरकर अर्धरात्रिके बाद दो घडी मात्र कालके बीतनेपर स्वाध्यायको प्रारम्भ करें। और जब रात्रि दो घडी मात्र शेष रह जाय तब उसे समाप्त कर दे। तत्पश्चात् प्रतिक्रमण पूर्वक योगको समाप्त कर दे। इसे विशेष स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामे "**स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ते**" इत्यादि तत्त्वानुशासनके पद्य (८१) को '**श्रीमद्रामसेन-पूज्यैरप्यवाचि**' इस अतिशय आदरभावके सूचक वाक्यके द्वारा ग्रन्थकार-का उल्लेख करके उद्धृत किया है।

(२) यह भी स्मरणीय है कि पूज्यपादाचार्य विरचित **इष्टोपदेशपर** आशाधरके द्वारा विशद टीका रची गई है। उसमे भी उन्होंने यथाप्रसंग प्रस्तुत तत्त्वानुशासनगत अनेक पद्योको उद्धृत किया है। यथा—

इष्टोपदेश	उद्धृत श्लोक तत्त्वानु०
४ गुरूपदेशमासाद्य	१७६
४ ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण	१७७
१९ यदात्रिकं फलं किंचित्	२१७
२० तद्ध्यानं रौद्रमार्तं वा	२२०

२१ वेद्यत्वं वेदकत्वं च १६१
२२ स्व-परज्ञप्तिरूपत्वात् १६२
२४ तथा ह्यचरमागस्य २२५
२५ (पू०) ध्यायते येन तद् ध्यानं ६७
३३ तमेवानुभवश्चाय १७०
तथा चोक्त तत्त्वानुशासनेके निर्देश पूर्वक।
४० गुरूपदेशमासाद्य (प्र० चरण भिन्न) ८७
[सम्यग्गुरूपदेशेन]

पद्मनन्दि-पञ्चविंशति—पद्मनन्दिके द्वारा विरचित यह एक २६ प्रकरणोका संग्रह ग्रन्थ है। इसका '**पञ्चविंशति**' यह नाम कैसे प्रसिद्ध हुआ, इस विषयमे निश्चित कुछ कहा नही जा सकता। वह स्वयं ग्रन्थ-कर्ताके द्वारा तो निर्धारित किया गया नही दिखता। कारण इसका यह है कि उक्त २६ प्रकारणोमे २२,२३ और २४ इन तीन प्रकरणोको छोड़कर शेष सब प्रकरणोके अन्तमे वे किसी न किसी रूपमे अपने नामके साथ विवक्षित प्रकरणके भी नामका निर्देश करते हुए देखे जाते है। तब ऐसी स्थितिमे कोई कारण नहा जो सामान्यसे वे ग्रन्थके नामका निर्देश न करें। सम्भव है वे सब प्रकरण पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूपसे रचे गये हो और तत्पश्चात् किसीके द्वारा एकत्र संकलित कर दिये गये हो। उपर्युक्त प्रकरणोमे १३वां **ऋषभस्तोत्र** और १४वा **जिनवरस्तवन** ये दो प्रकरण प्राकृतमे रचे गये है।

पद्मनन्दि नामके अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। उनमे प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता कौन पद्मनन्दि है, यह निश्चित रूपमे कुछ कहा नही जा सकता। इसका कारण यह है कि उन्होने इन प्रकरणोंमे पद्मनन्दी, पंकजनन्दी एव अम्भोजनन्दी आदिके रूपमे केवल अपने नामका ही संकेत किया है, विशेष कुछ परिचय नही दिया। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होने एक दो स्थलोपर (१-१९७ व २-५४) अपने गुरुके रूपमे '**वीरनन्दी मुनीन्द्र**' का स्मरण करते, हुए उनके प्रति आदरभावको प्रगट किया है। इससे इतना मात्र ज्ञात होता है कि प्रकृत ग्रन्थके रचयिता मुनि पद्म-नन्दी वीरनन्दी के शिष्य रहे हैं।

प्रकृत ग्रन्थके कितने ही सस्करण मराठी और हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हो चुके है। एक विशेष संस्करण उसका संस्कृत टीका और

हिन्दी अनुवादके साथ 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला)' सोलापुरसे भी ई० सन् १९६२ मे प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार विषयक विशेष जानकारीके लिये उसकी प्रस्तावना पठनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आशाधरके समक्ष रहा है और उन्होंने प्रसंगके अनुसार अपने अन० ध० की टीकामें उसके कुछ पद्योंको उद्धृत किया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक ८-२३ में निर्दिष्ट द्रव्यसामायिकके प्रसंगको स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामे प्रकृत प० 'पञ्चविंशति'के इन तीन पद्योंको प्रसंगके अनुसार उद्धृत किया गया है--

मुक्त इत्यपि न कर्म [कार्यं] मञ्जसा'''' ॥ १०-१८.
यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्' ''॥ १०-१६.
अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोगतः'''''''' ॥ १०-४४

यहींपर आगे श्लोक ९, ८०-८१ मे 'आचेलक्य आदि दस प्रकारके कल्पका निर्देश किया गया है। उसकी टीकामे संक्षेपसे उसे स्पष्ट करते हुए—'अतएव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमभिदधे' इस प्रकार अतिशय आदर पूर्वक ग्रन्थकारके नामोल्लेखके साथ प्रकृत 'पञ्चविंशति'के "म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः" इत्यादि पद्य (१-४१) को उद्धृत किया गया है।

(३) आगे श्लोक ९-९३ मे मुनियोंके २८ मूलगुणोंमेंसे स्थिति-भोजनके स्वरूपको प्रगट करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि संयमके निर्वाहार्थ साधु, यह विचार करता है कि जब तक मैं खडा रह कर पात्रके बिना हाथोंके ही द्वारा भोजन करनेमे समर्थ हूँ तभी तक भोजनको ग्रहण करूँगा, अन्यथा नही, इस प्रकार संयमके परिपालनमे वह दृढ रहता है। इसकी पुष्टिमे वहा उसकी टीकामे प्रकृत 'पञ्चविंशति'के "यावन्मे स्थिति-भोजनेऽस्ति दृढता" इत्यादि पद्य (१-४३) को उद्धृत किया गया है।

(४) इससे आगे यहींपर श्लोक ९-९७ मे कहा गया है कि निःसंगता (निर्ममत्व), अयाचना, अहिंसा और दुःखके सहन करनेका अभ्यास ये चार प्रयोजन जिस प्रकार नग्नताके द्वारा सिद्ध किये जाते हैं वे ही चारों प्रयोजन केशलोच—सिर व दाढी आदिके बालोंको हाथोंके द्वारा उखाडने से भी सिद्ध किये जाते हैं। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए उसकी टीकामे प्रस्तुत ग्रन्थके "काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः" आदि पद्य (१-४२) को भी उद्धृत किया गया है।

४० वसुनन्दि-श्रावकाचार—इसके रचयिता आ० वसुनन्दी हैं। उन्हीके नामपर इस श्रावकाचारका नाम वसुनन्दि-श्रावकाचार प्रसिद्ध हुआ है। इसमे दर्शन, व्रत आदि ग्यारह श्रावकपदों (प्रतिमाओं) के आधारसे क्रमशः श्रावकधर्मका निरूपण किया गया है। साथ ही श्रावकोंके द्वारा अनुष्ठेय अन्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश एवं पूजन-विधानादिका भी वहां विवेचन किया गया है। उन दर्शनिक आदि श्रावकपदोंका निर्वाह सम्यक्त्वके ऊपर निर्भर है—उसके बिना उनका परिपालन सम्भव नही है, इसलिये यहां सर्वप्रथम निःशंकादि अंगोंसे सहित उस सम्यक्त्व और उसके विषयभृत जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका विशद विचार किया गया है। तत्पश्चात् वहां यह स्पष्ट करते हुए कि दर्शन-श्रावक वह होता है जो सम्यक्त्वसे विभूषित होकर पाच उदुम्बर फलोंके साथ सात-व्यसनोका भी त्याग कर देता है। आशाधरने सागारधर्मामृतमें; कितने ही प्रतिपाद्य विषयोंके स्पष्टीकरण व पुष्टिकरणमें प्रस्तुत श्रावकाचारका आश्रय लिया है। इसे स्पष्ट करनेके लिये यहां कुछ प्रसंग प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) सा० ध० श्लोक ३, ७-८ मे दर्शनिक श्रावकके स्वरूपका निर्देश किया गया है। आगे श्लोक ९-१६ मे उसका विशदीकरण करते हुए वहां श्लोक ३-१६ की स्वो टीकामे वसु० श्रा० की इस गाथाको ग्रन्थकारके नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया गया है—

> पचुंबरसहियाइं सत्त वि वसणाइं जो विवज्जेइ।
> सम्मत्तविसुद्धमई सो दसणसावओ भणिओ॥ ५७.

इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमते।

प्रकृत गाथामे उस दर्शनिक श्रावकको सात व्यसनोंका त्यागी कहा गया है। तदनुसार सागारधर्मामृतमे आगे ७ (१७-२३) श्लोकोमे सोदाहरण उन सात व्यसनोंके स्वरूप आदिको स्पष्ट किया गया है। वे उदाहरण वसु० श्रा० मे यथास्थान १२५-३१ गाथाओंमे उपलब्ध होते हैं।

(२) वसु० श्रा० मे प्रथमतः मेधावी (तीव्रबुद्धि) शिष्योंको लक्ष्य करके दानके फलकी प्ररूपणा की गई है। (गा० २४०-४३)। तत्पश्चात् मन्दबुद्धि शिष्योंको लक्ष्य करके उसीकी प्ररूपणा वहां आगे गा० २४४-४८में की गई है। उसका अनुसरण करके सा० ध० मे श्लोक २-६७ मे उस दानफलका विवेचन किया गया है।

(३) वसु० श्रा० मे प्रोषधोपवासके प्रसंगमे उसके उत्तम, मध्यम और

जघन्य इन तीन भेदोंका निर्देश करते हुए अपनी शक्तिके अनुसार चारों पर्वोमें उसके करनेकी प्रेरणा की गई है। यथा—

उत्तम-मज्झ-जहण्णं तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं।
सगसत्तीए मासम्मि चउसु पव्वेसु कायव्वं॥ २८०॥

(४) सा० ध० श्लोक ५, ३४-३५ मे उन्ही तीन भेदोंके निर्देश पूर्वक उस प्रोषधोपवासका विधान प्राय. उसी रूपमें किया गया है।

दोनो ग्रन्थगत उस प्रसंगसे सम्बद्ध कुछ शब्दोंको समानता दृष्टव्य है। जैसे—

(क)—वसु० श्रा०—सत्तमि-तेरसिदिवसम्मि अतिहिजण-भोयणावसाणम्मि भुंजणिज्ज मोत्तूण ···गा० २८१.

सा० ध०—पर्वपूर्वदिनस्यार्धे भुक्त्वाऽतिथ्यशितोत्तरम्। ···· ·श्लोक ५-३६.

(ख)—वसु०श्रा०—वायण-कहाणुपेहणसिक्खावणचिंतणोव-जोगेहि दिवससेसं णेऊण, अवराण्हियवंदण किच्चा ··· · २८४.

सा० ध०—धर्मध्यानपरो दिनं नीत्वा आपराह्णिकं कृत्वा· ··५-३७

(ग)—आयंबिल-णिव्वियडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा।
जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं॥ वसु० श्रा० २९२.

सा० ध० ५-३५ टीका—तत्राचाम्लमसंस्कृतसौवीरमिश्रभोजनम् निर्विकृति—विक्रियेते जिह्वा-मनसी येनेति, विकृति.····अथवा यद् येन सह भुज्यमान स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते, विकृतेर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृतिः। आदि-शब्देनेकस्थानेकभक्तरसत्यागादि।

(४) सा० ध० में जो उद्दिष्टविरत (अन्तिम) श्रावकको प्ररूपणा की गई है (७, ३७-४९) उसका आधार वसु० श्रा० का प्रकृत प्रसंग रहा है। (गाथा ३०१-११)। यह भी यहा ध्यातव्य है कि इन दोनों ग्रन्थोंमे जिस पद्धतिसे उस उत्कृष्ट श्रावककी चर्याका विधान किया गया है वह अन्यत्र किसी दि० ग्रंथमे सम्भवतः उपलब्ध नहीं होगी। तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेके लिये प्रकृत प्रसंगसे सम्बद्ध उभय ग्रन्थगत कुछ वाक्यविन्यासको यहां प्रस्तुत किया जाता है। यथा—

क—एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ॥ ३०१.

खम्मिल्लाणं चवणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ॥ ३०२.
वसु० श्रावकाचार

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रु-मूर्धजानपनाययेत्।
सितकौपीनसंव्यानः कर्त्तर्या वा क्षुरेण वा ॥ सा० ध० ७-३८
स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः। ३९ पू०
तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्।
कौपीनमात्रयुग् धत्ते यतितवत् प्रतिलेखनम् ॥ ७-४८.

ख–पर्वदिनोमे उसके उपवासकी अनिवार्यता दोनो ही ग्रन्थोंमे समान रूपमे इस प्रकार प्रगट की गई है—

उपवासं पुण णियमा चउव्विह कुणई पव्वेसु ॥
वसु० श्रा० ३०३ उत्त०

कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवास चतुर्विधम् ॥ सा० ध० ७-३९ उ

ग—पाणि-पात्रमे भोजनका विधान—

भुंजेइ पाणि-पत्तम्मि भायणे वा सइ समुवविट्ठो। वसु० श्रा० ३०२
स्वयं समुपविष्टोऽद्यात् पाणि-पात्रेऽथ भाजने। सा० ध० ७-४०

घ—भिक्षार्थ भ्रमणकी विधि—

पक्खालिऊण पत्त पविसइ चरियाए पंगणे ठिच्चा।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ॥
सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण ततो।
अण्णम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा ॥
वसु. श्रा. ३०४-५.

स श्रावकगृह गत्वा पात्र-पाणिस्तदङ्गणे ॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा।
मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥
निर्गत्यान्यद् गृहं गच्छेत्…… ॥ सा. ध. ७, ४०-४२.

ङ—किसीके द्वारा मार्गके मध्यमे रोके जाने पर क्या करे, इसका विधान भी दोनों ग्रन्थोमें द्रष्टव्य है—

अह अद्धपहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह।
भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्ण भुंजए सेसं ॥ वसु. श्रा. ३०६

च—यदि भिक्षार्थ मार्गमे कोई न रोके तो क्या करे, इसे भी समान शब्दोमें दोनों ग्रन्थोमें देखा जा सकता है। वसु. श्रा गा. ३०७-८ और सा. ध. ७, ४३-४४.

भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोअमायाचितोऽश्नात् तद् भुक्त्वा यद् भिक्षितं मनाक् ।। सा. ध. ७,४१-४२

छ—भिक्षाभ्रमणके पश्चात् गुरुके समीप जाकर आलोचना पूर्वक चार प्रकारके प्रत्याख्यानको ग्रहण करे, इस अभिप्रायको भी दोनों ग्रन्थोंमे समान शब्दोंमे व्यक्त किया गया है। वसु. श्रा.गा.३१० और सा.ध.७-४५.

(५) विकल्पके रूपमे प्रस्तुत दोनो ग्रन्थोंमे यह अभिप्राय भी व्यक्त कर दिया गया है कि जिसके एक भिक्षाका नियम है वह मुनिके भोजनके पश्चात् किसी गृहमे प्रविष्ट होकर भोजन करे तथा भिक्षालाभ न होने पर पुनः उपवास करे। वसु श्रा. गा ३०९ और सा. ध ७-४६.

उद्दिष्टविरत (अन्तिम श्रावक) के इस चर्याविधानके समस्त प्रसंगको सावधानीसे देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आशाधरने आ. वसुनन्दीके केवल अभिप्रायको ही ग्रहण नही किया है, बलिक उनके प्राकृत शब्दोंके छायानुवादके रूपमे उन्ही शब्दोमे प्रकृत प्रसगको सागारधर्मामृतमें ग्रथित किया है।

(६) देशव्रती श्रावक दिनप्रतिमा, वीरचर्या, त्रिकालयोग और सिद्धान्त-रहस्यके अध्ययनका भी अधिकारी नही है, इस मतको समान रूपसे इन दोनों ग्रन्थामे इस प्रकार प्रगट किया गया है—

दिनपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।
सिद्धंतरहस्साण वि अज्झयणे देसविरदाणं ।।
वसु. श्रा.गा. ३१२

श्रावको वीरचर्याहःप्रतिमातापनादिषु
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।। सा. ध. ७-५०

४ **योगशास्त्र**—सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र सूरि विरचित यह ध्यानविषयक शास्त्र १२ प्रकाशोंमें विभक्त है। उसमे यद्यपि प्रमुखतासे ध्यानका वर्णन किया गया है, फिर भी चारित्रके प्रसंगमे श्रावकाचारकी भी प्ररूपणा उसमें की गई है। आशाधरने अपने 'धर्मामृत' मे श्रावकाचारका निरूपण करते हुए इस 'योगशास्त्र'का भी विशेष आश्रय लिया है। इसके अति-

रिक्त जैसा कि पूर्वमें भी कहा जा चुका है, आशाधरने अपने सागारधर्मामृतमे जो अतिचारोके प्रसंगको अधिक विकसित किया है उसका प्रमुख आधार प्रस्तुत योगशास्त्र और उसके पूर्ववर्ती कुछ अन्य भी श्वेताम्बर ग्रन्थ रहे हैं। जिस प्रकार सागारधर्मामृतपर आशाधरने स्वो० टीका लिखी है उसी प्रकार हेमचन्द्र सूरिने भी अपने इस योगशास्त्र पर विस्तृत स्वोपज्ञ विवरण लिखा है। प्रकृत योगशास्त्रका सागारधर्मामृत पर कहाँ कितना प्रभाव रहा है, इसे आगे कुछ उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

(१) सागारधर्मामृतको रचते हुए प्रथमतः प्रारम्भमें मंगलपूर्वक इस प्रकार प्रतिज्ञा की गई—

> अथ नत्वार्ऽर्हतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि।
> तद्धर्मरागिणा धर्मः सागाराणा प्रणेष्यते ॥ सा. ध. १-१

यह योगशास्त्रके इस कथनपर विशेष आधारित रहा है—

> सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम्
> यतिधर्मानुरक्ताना देशतः स्यादगारिणाम् ॥ यो. शा १-४६.

यह यहां स्मरणीय है कि 'धर्मामृत'के पूर्व विभाग स्वरूप अनगारधर्मामृतमे विस्तारसे मुनिधर्मके निरूपणके पश्चात् उसके इस उत्तर विभागमे श्रावकधर्मके निरूपण की प्रतिज्ञा की जा रही है।

हेमचन्द्र सूरि भी इसके पूर्व (१,१८-४५ श्लोकोंमे) संक्षेपसे मुनिधर्मका निरूपण कर चुके हैं।

उपर्युक्त दोनों श्लोकोमे 'तद्धर्मरागिणा' और 'यतिधर्मानुरक्तानां' तथा 'सागाराणां धर्मः' और 'देशतः स्यादगारिणाम्' ये पद तुलनात्मक दृष्टिसे ध्यान देने योग्य है।

(२) सा. ध. श्लोक १-११मे कैसा गृहस्थ श्रावकधर्मके आचरण योग्य होता है, इसे स्पष्ट करते हुए उसके लिये 'न्यायोपात्तधनः' आदि १४ विशेषण दिये गये हैं।

उधर योगशास्त्र श्लोक १, ४७-५६ मे भी उक्त गृहस्थके विषयमें 'न्यायसम्पन्नविभवः' आदि ३५ विशेषण दिये गये हैं। ये योगशास्त्रगत उसकी विशेषतायें व्यापक हैं जिनमें सा. ध. में निर्दिष्ट वे १४ विशेषण समाविष्ट हैं। तुलनात्मक दृष्टिसे उन्हे इस प्रकार देखा जा सकता है—

सा० ध०—१ न्यायोपात्तधनः (यो०शा० श्लोक ४२—न्यायसम्पन्न-विभव), २ गुणगुरुन् यजन् (५० माता-पित्रोश्च पूजकः, ५४ व्रतस्थ-ज्ञान-वृद्धानां पूजकः), ३ सद्गीः (४८ अवर्णवादी न क्वापि), ४ अन्योन्यानु-गुणं त्रिवर्गं भजन् (५२ अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्) ५ तदर्ह-गृहिणी-स्थानालयः (४७ कुल-शीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः); इत्यादि प्रकारसे अन्य विशेषताओंको भी आगे पीछे इन दोनों ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है। इसका संकेत पीछे 'धर्मबिन्दु' के प्रसंगमें भी किया जा चुका है।

आशाधरने इस श्लोक (१-११) की 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामें ग्रन्था-न्तरोंसे अनेक अवतरण-वाक्योंको उद्धृत किया है, जिनमेसे दो अवतरण प्रस्तुत योगशास्त्र-विवरणमे देखे जाते हैं—

सा०ध० ज्ञानदी	यो० शा० स्वो० विव०, ४७–५६
१. यस्य त्रिवर्गशून्यानि	१, पृ० १५४
२. पादयायानिधिं कुर्यात्	१, पृ० १५२
३ प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत	१, पृ० १५८
४. लोकापवादभीरुत्व	१, पृ० १४७
५. आयार्द्धं च नियुञ्जीत	१, पृ० १५२
६. यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि	१, पृ० १५४

(३) जैसे प्राणीके अंगभूत मूँग आदि अन्नको भक्ष्य माना गया है वैसे-ही प्राणीके अंगभूत मांसको भी भक्ष्य समझना चाहिये, इस आशंकाके समाधानमे सा०ध० श्लोक २-१० में स्त्रीत्वसे समान पत्नी और माता इन दोका उदाहरण देते हुए अन्नको भक्ष्य और मांसको निषिद्ध निर्दिष्ट किया गया है।

योगशास्त्रमें उसी उदाहरणके द्वारा अन्नको भक्ष्य और मांसको निषिद्ध सिद्ध किया गया है। प्रसंग वह इस प्रकार है—

यस्तु प्राण्यङ्गमात्रत्वात् प्राह मांसौदने समे।
स्त्रीत्वमात्रान्मातृ-पत्न्योः स किं साम्यं न कल्पयेत् ॥

यो०शा०स्वो०विव० ३-२३।

(४) प्रकृत दोनो ग्रन्थोंमें पाँच उदुम्बर फलोंका निर्देश समान रूपमें इस प्रकार किया गया है—

सा०ध० २-१३—(१) पिप्पल, (२) उदुम्बर, (३) प्लक्ष, (४) वट, (५) और फलगु (फल्गुरत्तकाकोदुम्बरिका—स्वो० टोका)।

यो०शा० ३-४२—(१) उदुम्बर, (२) वट, (३) प्लक्ष, (४) काकोदुम्बरिका और (५) पिप्पल।

(५) सा०ध० श्लोक ४-२६ मे रात्रिभोजनके प्रसंगमे जिस वनमालाका उदाहरण दिया गया है उसी वनमालाका (उदाहरण योगशास्त्रमें भी इस प्रकार दिया गया है—

श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मण:।
निशाभोजनशपथं कारितो वनमालया॥ यो०शा०३-६८

प्रसंगगत शब्दसाम्यके लिये प्रकृत दोनों ग्रन्थोकी स्वो० टीका द्रष्टव्य हैं।

(६) सा०ध० श्लोक ४-२५ मे रात्रिभोजनको जलोदरादि रोगोका उत्पादक और प्रेत आदिके द्वारा उच्छिष्ट निर्दिष्ट किया गया है। इसका स्पष्टीकरण उसकी स्वो० टीकामे इस प्रकार किया गया है—

तत्र भूका भोजनेन सह भुक्ता जलोदरं करोति, कौलिका कुष्ठम्, मक्षिका छर्दिम्, मर्इगिका मेदोहानिम्, व्यञ्जनान्तःपतितो वृश्चिकस्तालुव्यथाम्, कण्टक: काष्ठखण्डं वा गलव्यथा, बालश्च गले लग्न: स्वरभङ्गमित्यादयो दृष्टदोषा सर्वेषा प्रतीतिकरा रात्रिभोजने सम्भवन्ति।

इस स्पष्टीकरणके आधारभूत योगशास्त्रके निम्न श्लोक रहे है—

मेधा पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वर्गन्त कुष्ठरोगं च कौलिक:॥ ३-५०
कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिक:॥ ६-५१
विलग्नश्च गले बाल: स्वरभङ्गाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषा सर्वेषां निशिभोजने॥ ३-५२

उक्त रात्रिभोजनको प्रेतादिसे उच्छिष्ट योगशास्त्रके इस श्लोकमे कहा गया है—

अन्न प्रेतपिशाचाद्यै: संचरद्भिर्निरङ्कुशम्।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र तत्र नाद्याद् दिनात्यये॥ ३-४८

(७) सा०ध० श्लोक ४-२९ में दिनके प्रारम्भके दो और अन्तके दो अन्तर्मुहूर्तोंको छोड़कर दिनमे भोजनका विधान किया गया है। इसीप्रकार

योगशास्त्रमें भी दिनके प्रारम्भकी दो और अन्तकी दो घटिकाओंको छोड़कर दिनमे भोजनका विधान किया गया है (३-६३)। उक्त प्रकारसे रात्रिभोजनका परित्याग करने वाले गृहस्थकी प्रशंसा करते हुए दोनों ही ग्रन्थोंमे यह कहा गया है कि वह इस प्रकारसे अपने जीवनके अर्धभागको तो उपवासके साथ बिता देता है। उन दोनों श्लोकोंकी वह समानता द्रष्टव्य है—

योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तमुंहूर्तौ रात्रिवत् सदा ।
स वर्ज्येतोपवासेन स्वजन्मार्धं नयन् कियत् ॥ सा०ध० ४-२९.

करोति विरतिं धन्यो यः सदा निशि भोजनात् ।
सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य स्यादवश्यमुपोषितः ॥ यो०शा० ३-६९.

(८) सा०ध० श्लोक २-१८ मे 'इति च क्वचिदष्टमूलगुणाः' ऐसा निर्देश करते हुए प्रकारान्तरसे भी इन आठ मूलगुणोंका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

मद्य-पल-मधु-निशाशन-पञ्चफलीविरति-पञ्चकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥
सा० ध० २-१८.

यह योगशास्त्रके इस श्लोकसे प्रभावित रहा दिखता है—

मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ॥ ३-६.

यह यहां विशेष स्मरणीय है कि इसके पूर्व (श्लोक २-३) आशाधर इन आठ मूलगुणोंके विषयमे तीन मतभेदोका उल्लेख कर चुके हैं। उन मतभेदोंका जिनसे सम्बन्ध रहा है उनका भी स्पष्ट निर्देश वही पर (स्वो-टीका में) किया जा चुका है। किन्तु प्रकृत श्लोक (२-१८) में इस चौथे मतभेदके प्रसंगमें **'किसी शास्त्रमें** इन आठको भी मूलगुण माना गया है' इतना मात्र संकेत किया है, शास्त्रविशेषका उल्लेख वहां नहीं किया गया है।

योगशास्त्रमें उपर्युक्त श्लोक (३-६) के आगे यह एक श्लोक (३-७) और भी उपलब्ध होता है—

आमगोरससंपृक्तद्विदलं पुष्पितौदनम् ।
दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत् ॥ (३-७).

हेमचन्द्र सूरिके द्वारा प्रकृत दोनों श्लोकोंमे प्रयुक्त पदोंका उपयोग आशाधरने कहा किस प्रकारसे किया है, इसे इस प्रकार देखा जा सकता है—

यो शा. ३-६—अनन्तकायमज्ञातफलं....वर्जयेत्

सा ध. ५-१७—अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः।

,, ३-१४—सर्वं फलमविज्ञातं .. न खादेत्

यो. शा. ३-७—आमगोरससंपृक्तद्विदलं....वर्जयेत्

सा. ध. ५-१८—आमगोरससंपृक्तं द्विदलं....नाहरेत्

यो. शा ३-७—पुष्पितौदनम्। दध्यहर्द्वितयातीतं....

सा. ध. ३-११—दधितक्रं द्व्यहोषितम्। काञ्जिकं पुष्पितमपि ...

प्रकृत दोनो ग्रन्थोंमे इस प्रकारके प्रचुर प्रसंग आगे-पीछे उपलब्ध होते हैं। पूर्वनिर्दिष्ट मद्य, मांस आदिका विचार यो. शा. मे जहाँ 'भोगोपभोग-मान' नामक दूसरे गुणव्रतके प्रसगमे विस्तारसे (३, ४-७२) किया गया है वहा सा ध मे उस सबका विचार पाक्षिक श्रावकके प्रसगमे (२, २-१९); प्रथम दर्शनिक श्रावकके प्रसंगमे (३, ७-१६), तथा आगे भोगोपभोग-परिमाण गुणव्रतके प्रसंगमे (५, १३-१८), इत्यादि विविध प्रसंगोपर किया गया है।

मूलमे प्रस्तुत दोनो ग्रन्थगत यह प्रसंग रत्नाकरण्डक (८२-८९) और पुरुषार्थसिद्धयुपाय (६१-७४) से प्रभावित हो सकता है।

पूर्वोत्तरकालीन ग्रंथकारोकी यह आदान-प्रदानकी प्रवृत्ति पूर्वमे भी रही है और वर्तमानमे भी देखी जाती है, जिसे अस्वाभाविक नही कहा जा सकता है। प्रसगप्राप्त योगशास्त्रके कर्ता हेमचन्द्र सूरि भी उससे अछूते नही रहे—उन्होंने भी अपने त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' को जिन-सेनाचार्य विरचित महापुराणसे तथा प्रकृत 'योगशास्त्र' को शुभचन्द्राचार्य विरचित ज्ञानार्णवसे पुष्ट व विकसित किया है।

(९) योगशास्त्रमे श्लोक ३, १००-१०१ के द्वारा भोगोपभोगपरिमाण-व्रतके कर्माश्रित १५ अतिचारो (खरकर्मों) का नाम निर्देश किया गया है। इसके पूर्व श्लोक ३-९८ के स्वो विवरणमे उस भगोपभोगपरिमाणव्रतका लक्षणान्तर इस प्रकार किया गया है—

> भोगोपभोगमानस्य च व्याख्यानान्तरम्—भोगोपभोगसाधनं यद् द्रव्यं तदुपार्जनाय यत् कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोग-शब्देनोच्यते, कारणे कार्योपचारात्। ततश्च कर्मतः कर्माश्रित्य

खरं कठोरं प्राणिघातकं यत् कर्म कोट्टपाल-गुप्तिपालन-वीत-पालनादिरूपं तत् त्याज्यम्, तस्मिन् खरकर्मत्यागलक्षणे भोगो-पभोगव्रते । पञ्चदशमलानतिचारान् संत्यजेत् ते च कर्मादान-शब्देनोच्यन्ते, स्वो. विव. ३-९८.

आशाधरने हेमचन्द्रसूरिके उपर्युक्त व्याख्यानान्तरका सीधा उल्लेख न करके श्लोक ५-२० की स्वो टीकामे **सिताम्बराचार्यकी शंकाके रूपमें** उन्हीके शब्दोंमे उसे उपस्थित करते हुए **अचारु** बतलाया है। यथा—

अत्राह सिताम्बराचार्यः—भोगोपभोगसाधनं यद् द्रव्यं तदुपार्जनाय यत्, कर्म व्यापारस्तदपि योगोपभोगशब्देनोच्यते, कार्ये कारणोपचरात्। ततः कोट्टपालादिखरकर्मापि त्याज्यम्। तत्र खरकर्मत्यागलक्षणे भोगो-पभोगव्रतेऽङ्गाराजीविकादीन् पञ्चदशातिचारा न्त्यजेत्। तदचारु ...

इस प्रकार यहाँ सा. ध. की स्वो. टीकामे हेमचन्द्र सूरिके उपर्युक्त सन्दर्भको जैसा-का-तैसा ले लिया गया है, एक आध शब्दमे ही कुछ परिवर्तन हुआ है या अधिक जोडा गया है। जैसे—तस्मिन् = तत्र, 'कोट्टपाल-गुप्ति-पाल–वीतपाल' को 'आदि' शब्दसे लिया गया है, आदि।

यह भी स्मरणीय है कि हेमचन्द्र सूरि उपर्युक्त व्याख्यानान्तरमे श्लोक[1] ३-९८ के अन्तर्गत शब्दोका स्पष्टीकरण कर रहे हैं, तदनुसार सा. ध. की टीकामे उक्त प्रकारके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नही रही है।

इससे स्पष्ट है कि आशाधरने जिस रूपमे उस शंकाको प्रस्तुत किया है वह तदनुरूप नहीं रहा है।

उन खरकर्मोंका स्पष्टीकरण इन दोनो ग्रन्थोंमेसे योगशास्त्रमें श्लोक ३, ९९-११३ द्वारा मूलमें और सा. ध. की स्वो. टीका (५, २१-२३) में किया गया है।

उपर्युक्त सिताम्बराचार्यकी शंकाका समाधान करते हुए जो सा० ध० में उसे **'अचारु'** कहा गया है उसका स्पष्टीकरण पीछे (पृ० ३५-३६) 'श्रावकप्रज्ञप्ति'के प्रसंगमें किया जा चुका है।

(१०) प्रसंगप्राप्त **'महाश्रावक'** के स्वरूपका स्पष्टीकरण योगशास्त्र (२-११९) और सा० ध० ५-५५ में समान रूपसे किया गया है। विशेष

---

१. [अमी भोजनतस्त्याज्याः] कर्मतः खरकर्म तु।
तस्मिन् पञ्चदशमलान् कर्मादानानि संत्यजेत् ॥ ३-९८.

इतना है कि सा० ध० मे उसे अधिक विकसित किया गया है। यो० शा० में 'सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्' विशेषणमें उपयुक्त 'सात क्षेत्रों' से जिनबिम्ब, जिनभवन, आगम, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन सातको ग्रहण किया गया है। उधर सा० ध० मे 'गुणवतां वैयावृत्यपरायणः' विशेषणसे विशेषित करते हुए प्रकारान्तरसे सम्यग्दर्शनशुद्धत्व, व्रतभूषणभूषितत्व, निर्मलशीलनिधित्व, संयमनिष्ठत्व, जिनागमज्ञत्व, गुरुशुश्रूषकत्व और दयादिसदाचारपरत्व इन सात गुणो को ग्रहण किया गया है।

(११) तत्पश्चात् इन दोनो ही ग्रन्थोमे समान रूपमे श्रावककी दिनचर्याका वर्णन किया गया है। प्रकृत प्रसंगको प्रारम्भ करते हुए दोनो ग्रन्थोका प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठिस्तुतिं पठन्।
किंधर्मा किंकुलश्चास्मि किं व्रतोऽस्मीति च स्मरन्॥
यो० शा० ३-१२१

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपञ्चनमस्कृतिः।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत्॥ सा० ध० ६-१

(१२) तदनन्तर इन दोनो ग्रन्थोमे स्नानादिसे निवृत्त होकर जिनालय जाने और जिनपूजा आदिके करनेकी प्रेरणा की गई है। इस प्रसंगसे सम्बद्ध दोनो ग्रन्थोके ये श्लोक तुलनीय है—

प्रविश्य विधिना तत्र त्रिः प्रदक्षिणयेज्जिनम्।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य स्तवनैरुत्तमैः स्तुयात्॥
यो० शा० ३-१२३ (पृ०५८२)

क्षालिताङ्घ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः।
त्रिः प्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन्॥ सा० ध० ६-९.

ततो गुरूणामभ्यर्णे प्रतिपत्तिपुरःसरम्।
विदधीत विशुद्धात्मा प्रत्याख्यानप्रकाशनम्॥ यो० शा० ३-१२४

अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाभ्यर्च्य जिनेश्वरम्।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत्॥ सा० ध० ६-११

विलास-हास-निष्ठ्यूत-निद्रा-कलह-दुष्कथाः।
जिनेन्द्रभवनस्यान्तराहारं च चतुर्विधम्॥ यो० शा० ३-८१

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिं।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत्॥ सा० ध० ६-१४

ततः प्रतिनिवृत्तः सन् स्थानं गत्वा यथोचितम् ।
सुधीर्धर्माविरोधेन विदधीतार्थचिन्तनम् ।। यो० शा० ३-१२७
ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः ।
अधितिष्ठेद् व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविरोधतः ।। सा० ध० ६-१५

आगे इस प्रसंगमे उपयुक्त इन दोनों ग्रन्थोंके निम्न श्लोकोंको भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जा सकता है—

यो० शा० ३-१२८ व सा० ध० ६-२६। यो० शा० ३,१२९-३१ व सा० ध० ६-२७-२८। यो० शा० ३-१४२ व सा० ध० ६-१७। यो० शा० ३-४६ व० सा० ध० ६-४१।

इस प्रकारसे यह सागारधर्मामृतका पूरा ही प्रसग योगशास्त्रसे अत्यधिक प्रभावित रहा है। यही नही, बहुतसे श्लोकोंमें तो योगशास्त्रगत शब्दो और पदो आदिको भी सा० ध० मे उसी रूपमे ले लिया गया है। विशेष इतना है कि इस प्रसंगमे हेमचन्द्र सूरिने स्वो० विवरणको बीसीं ग्रन्थोंके अवतरणवाक्योंको लेकर उसे बहुत विस्तृत किया है।

४२ **वाग्भटालंकार**—कवि वाग्भट (विक्रम संवत् ११७९) प्रणीत यह अलकारग्रन्थ पांच परिच्छेदोंमें विभक्त है। उसमे कीर्तनीय काव्यकी रचनामे शब्दार्थविषयक गुण-दोषोंका विचार करते हुए किन विषयोंकी ओर ध्यान रहना चाहिये, इसे स्पष्ट किया गया है। आगे काव्यरचनाकी आधारभूत सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभावित इन चार भाषाओंका उल्लेख करते हुए दोषोंके निराकरण, औदार्य आदि गुणोकी उपादेयता, यथायोग्य शब्दालंकार व अर्थालंकारोंको योजना और शृंगारादि नौरसोंसे सम्पन्नता. इत्यादिका संक्षेपमें विशद विचार किया गया है[1]।

प्रस्तुत ग्रन्थपर (१) जिनधर्म सूरि विरचित, (२) सिंहदेव गणि प्रणीत, (३) क्षेमहंस गणि रचित, (४) अनन्तभट्टसुत गणेश रचित और (५) राजहंसोपाध्याय विरचित ये पाच व्याख्यायें उपलब्ध होती है। इनमे सिंहदेव गणि विरचित व्याख्याके साथ वह निर्णयसागर, मुद्रणालय बम्बईसे प्रकाशित है। (चतुर्थ संस्करण ई० सन् १९२८)। उपर्युक्त विवेचन उसीके आधारसे किया गया है।

---

१. विशेष जानकारीके लिये प्रकृत संस्करणके प्रारम्भके प्रास्ताविकके रूपमें लिखे गये सन्दर्भको तथा 'जैन साहित्य और इतिहास' में 'चार वाग्भट' शीर्षक लेखको देखा जा सकता है (पृ० ३२६-३१, द्वि० संस्करण)।

आशाधरने सम्भवतः प्रसंगप्राप्त विवेचनमें इसका आश्रय लिया है। यथा—

(१) अन० ध० श्लोक १-१२ मे उन्होने संसारको नाटकका रूप देते हुए यह स्पष्ट किया है कि जो संसाररूप नाटकको देखकर स्वस्थ हुआ है—शाश्वतिक मुक्तिसुखको प्राप्त हुआ है-उसका उस संसाररूप नाटकको देखना सफल रहा है। किन्तु वर्तमानमे यद्यपि ऐसे विरले ही हैं जो उपदिष्ट तत्त्व और उपदेष्टापर विश्वास करते हैं, फिर भी उपदेष्टाको उन्हें हितकर उपदेश देना ही चाहिये, क्योकि अवसर पाकर उनमे कोई हितकर मार्गका आश्रय ले सकता है। इसे विशेष स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसकी स्वो० टीकामे प्रसंगप्राप्त नाटकमे उपयोगी पड़नेवाले रस आदिका विचार किया है। तदनुसार वहां प्रथमतः "**कारणान्यथ कार्याणि**" आदि दो श्लोकोको उद्धृत कर इसके लक्षणमे यह अभिप्राय प्रगट किया है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोसे जो स्थायीभाव व्यक्त होता है उसे रस माना जाता है। तत्पश्चात् आगे प्रकारान्तरसे 'अथवा.के निर्देशपूर्वक "**विभावैरनुभावैश्च**" इत्यादि एक अन्य श्लोकको उद्धृत कर यह भी अभिप्राय प्रगट किया है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी इन चारके द्वारा साध्यताको प्राप्त होनेवाले स्थायीभावको रस जानना चाहिये। आगे प्रसंगप्राप्त व्यभिचारी भावके तेतीस भेदोंका निर्देश तीन श्लोकोंको उद्धृत कर उनके द्वारा किया गया है। इसके पश्चात् एक श्लोकके द्वारा आठ सात्त्विकभावोंका निर्देश किया गया है।

ऊपर अन० ध० की टीकामे जिन श्लोकाकों उद्धृत किया गया है उनमे रसके लक्षणका प्ररूपक प्रथम श्लोक प्रस्तुत वाग्भटालंकारमें प्रायः उसी रूपमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

> **विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।**
> **आरोप्यमाण उत्कर्षं** स्थायीभावो रसः स्मृत.॥ ५-२

अन० ध० टीकामे उद्धृत उसका तृतीय चरण इस प्रकार है— "**आनीयमानः साध्यत्वं**"।

(२) नौ रसोंका निर्देशक श्लोक दोनो ग्रन्थोंमें इस प्रकार है—

> **शृङ्गार-वीर-करुण-हास्याद्भुत-भयानकाः।**
> **रौद्र-बीभत्स-शान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः॥ वाग्भट ५-३**

शृङ्गार-हास्य-करुणा-रौद्र-वीर-भयानकाः ।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः ॥ अन० ध० टी.

क्षेमगणि व्याख्याके अनुसार यह श्लोक वाग्भटके ही समान अन. ध. टीकामें उद्धृत है[1]।

(३) आगे ३३ व्यभिचारी भावोंके निर्देशक "निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिः" आदि चार श्लोक भी क्षेमगणि व्याख्याके अनुसार प्रकृत दोनों ग्रन्थोंमें कुछ थोड़ेसे पाठभेदके साथ प्राय समान रूपमें ही उपलब्ध होते हैं[2]।

(४) क्षेमगणि व्याख्याके अनुसार आठ सात्त्विक गुणोंका निर्देशक यह श्लोक भी दोनों ग्रन्थोंमें समान है—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलया इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ अन. ध टीका १,१२.

यह यहां विशेष स्मरणीय है कि आशाधरने अपनी 'भूपालचतुर्विंशतिस्तव' की टीकामें (श्लोक १) 'यदाह वाग्भटः' इस सूचनाके साथ प्रस्तुत वाग्भटालंकारके इस श्लोकको उद्धृत किया है—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।
मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥
गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् ।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥
वाग्भटालंकार ३,३-४

इस सब स्थितिको देखते हुए यह सम्भावना अधिक है कि आशाधरके समक्ष क्षेमहंसगणि विरचित व्याख्या युक्त प्रस्तुत वाग्भटालंकार रहा है व तदनुसार ही उन्होने प्रसगप्राप्त उपर्युक्त श्लोकोंको अपनी अन. ध.टीका (१-१२)मे उद्धृत किया है।

जैसा कि पीछे (पृ० ४-६) 'साहित्य-सेवा' शीर्षकमें स्पष्ट किया जा चुका है-भरतेश्वरकाव्य, त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र और राजीमती विप्रलम्भ जैसे काव्योंके रचयिता तथा काव्यालंकारके टीकाकार पण्डितप्रवर आशाधर एक उल्लेखनीय कवि भी रहे हैं। इससे प्रसंग लाकर उनका पूर्वोक्त रस आदिकी चर्चा करना तदनुरूप ही है।

---

१. क्षेम गणिस्त्विमं श्लोकं यथा—शृङ्गार-हास्य कारुण्य-रौद्र-वीर-भयानकाः । बीभत्साद्भुतशान्ताश्च इति क्रमेणैव पपाठ। वाग्भट टिप्पण १, पृ० ६२—
२ वाग्भट पृ० ६२ का टिप्पण ३ द्रष्टव्य है।

४३ **रत्नकरण्डक-टीका**—आ. प्रभाचन्द्रके द्वारा रत्नकरण्डक, पूज्यपादाचार्य विरचित समाधितंत्र और गुणभद्राचार्य विरचित आत्मानुशासन इन तीन ग्रन्थो पर टीका लिखी गई है। इन टीकाओंकी रचना पद्धतिमें इतनी अधिक समानता है कि जिससे इन तीनों ग्रन्थोंके टीकाकार एक ही प्रभाचन्द्र प्रतीत होते है[1]। आशाधरके समक्ष ये टीकायें रही हैं और उन्होने धर्मामृतकी टीका एवं उसकी 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामें उनका उपयोग भी किया है। इसके लिये यहाँ एक दो उदाहरण दिये जाते हैं–

(५) अन ध. श्लोक ८-९३ की स्वो. टीकामें कृतिकर्मके प्रसंगमे शुभयोगोंके परावर्तनस्वरूप आवर्तो एवं शिरोनतियोको स्पष्ट करते हुए उनके विषयमें यह कहा गया है–**यथाहुस्तत्रभगवन्तः प्रमेन्दुपादा. रत्नकरण्डकटीकायां**-'चतुरावर्तत्रय' इत्यादिसूत्रे (रत्नक ५-१८) द्विनिषद्य इत्यस्य व्याख्याने देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्य इति।

उक्त विधान रत्नकरण्डक (१३९) मे सामायिक प्रतिमाके प्रसंगमें किया गया है। यह स्मरणीय है कि प्रकृत कृतिकर्मके विषयमे अवनति या अवनमन और आवर्तो विषयक परस्पर कुछ मतभेद रहा है, जिसकी सूचना आशाधरने उपर्युक्त श्लोक (८-९३)में प्रयुक्त 'कश्चित्' पदके द्वारा की है। विशेष जानकारीके लिये जिज्ञासुओंको षट्खण्डागम सूत्र ५,४, २७-२८. उसकी धवला (पु० १३, पृ० ८८-९० टीका) तथा मूलाचार गाथा ७-१०४ (६०३) व उसकी आचारवृत्ति एवं धवला पु० ९, पृ० १७९-९० देखना चाहिये। ऊपर निर्दिष्ट रत्नकरण्डकका श्लोक और उसकी प्रभाचन्द्र-टीका भी द्रष्टव्य है। इसके अतिरिक्त '**समीचीन धर्मशास्त्र**' (पं०जुगलकिशोर मुख्तार,पृ०१७९ ८२) मे भी प्रकृत प्रसगको देखा जा सकता है।

(२) अन०ध० श्लोक २-१४ मे आप्तके लक्षणका निर्देश किया गया है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी 'ज्ञानदीपिका' पंजिकामे "**क्षुधा तृषा भयं द्वेषो**" आदि तीन श्लोकोंको उद्धृत किया गया है। ये तीनों श्लोक उसी क्रमसे आत्मानुशासन श्लोक ९ की उक्त प्रभाचन्द्राचार्य विरचित टीकामें उद्धृत देखे जाते है।

(३) अन० ध० श्लोक २-१०३ मे अमूढदृष्टिका लक्षण निर्दिष्ट किया गया है। उसे स्पष्ट करते हुए उसकी स्वो० टीकामे "**मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ**"

---

१. देखिये 'जैन स० संरक्षक संघ सोलापुर' से प्रकाशित 'आत्मानुशासन' की प्रस्तावना, पृ० २३-२५।

आदि श्लोकको उद्धृत किया गया है। यह उक्त आत्मानुशासन श्लोक १० की टीकामें उद्धृत देखा जाता है।

उपसंहार

(१) पण्डितप्रवर आशाधर एक ख्यातिप्राप्त प्रतिष्ठित विद्वान् हुए हैं। वे धर्म, न्याय व व्याकरणादि अनेक विषयोंके पारंगत थे। उनके अगाध पण्डित्यकी प्रशसा मुनियोंने भी की है। उदयसेन और मदनकीर्ति मुनियोंने तो उनके पास अध्ययन भी किया है।

(२) उनके गुरु वादिराज पण्डित श्री धरसेनके शिष्य 'महावीर' रहे है। उनके पास उन्होंने जैन न्याय और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा था।

(३) उनका प्रतिष्ठित कुटुम्ब राजमान्य रहा है। वे जैनधर्मके उद्योतनार्थ अर्जुन भूपालके राज्यमें जाकर नलकच्छपुरमें बस गये थे।

(४) उनका समस्त जीवन अध्ययन-अध्यापन और ग्रन्थ-रचना जैसे लोकोपयोगी कार्योंको करते हुए इसी नलकच्छपुरमे बीता है।

(५) वे यावज्जीवन सद्गृहस्थ (श्रावक) ही रहे हैं, फिर भी झुकाव उनका आत्महितकर मुनिधर्मकी ओर रहा है।

(६) संस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओंके वे ज्ञाता रहे हैं, पर उनका विशेष अधिकार संस्कृत भाषा पर रहा है।

(७) उनके उपलब्ध सब ग्रन्थ संस्कृतमें ही रचे गये हैं। सम्भवतः उन्होंने छोटा-मोटा कोई भी ग्रन्थ प्राकृतमे नहीं रचा है, ग्रन्थरचना उनकी कुछ दुरूह भी रही है, सरल व सुबोध नही।

(८) उनकी ग्रन्थरचनाके प्रमुख विषय प्रायः धर्म, काव्य व पूजा-प्रतिष्ठा-विधान आदि रहे हैं। सम्भवत उनकी कर्म-सिद्धान्त विषयक कोई कृति नही रही है। उनका अध्यात्मविषयक एक संक्षिप्त ग्रन्थ **'अध्यात्मरहस्य'** उपलब्ध है, पर वह अमृतचन्द्र सूरि विरचित 'समयसार कलश' जैसा आकर्षक व सुरुचिपूर्ण नही रहा।

(९) जैसाकि उनके द्वारा विरचित ग्रन्थोंके अध्ययनसे निश्चित होता है, वे एक क्रियाकाण्ड प्रधान ग्रन्थकार रहे हैं। यह उनके द्वारा रचे गये जिनयज्ञकल्प, अर्हन्महाभिषेकार्चाविधि, क्रियाकलाप, नित्यमहोद्योत, स्नानशास्त्र और रत्नत्रयविधान आदि ग्रन्थोंसे भी सुस्पष्ट है।

(१०) क्रियाकाण्डप्रधानी होनेके कारण ही आशाधरने यथाप्रसंग समन्तभद्र, पूज्यपाद, भट्टाकलंक और अमृतचन्द्रसूरि आदिकी कृतियोंका आश्रय लेकर भी उनकी अपेक्षा महापुराणके कर्ता जिनसेन, उपासकाध्ययनके रचयिता सोमदेव और वसुनन्दि-श्रावकाचारके निर्माताको अधिक महत्त्व दिया है। इसे पीछे (पृ० ७३-७४) आठ गुणोके प्रसंगोमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इस स्थितिके होते हुए भी जहाँ तक मैं समझ सका हूँ वे एक प्रामाणिक ग्रन्थकार रहे हैं। जो कुछ भी विधान उन्होने किया है, पूर्वकालीन किसी-न-किसी ग्रन्थके आधार पर ही किया है।

अपवादके रूपमे उन्होंने जो पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इन तीन श्रावकभेदोका निर्देश किया है (श्लोक १-२०) और तदनुसार ही उनके अनुष्ठानको विभाजित किया है वह उस रूपमे अन्यत्र मुझे किसी ग्रन्थमे नहीं दिखा, इस प्रकारकी कल्पना यद्यपि उनकी स्वतन्त्र बुद्धिमत्ताकी परिचायक है, फिर भी उससे कुछ पूर्वापरविरोध या आगमविरोध नही हुआ। उनकी इस विषयविश्लेषणकी पद्धतिको अवसरके अनुरूप उचित ही समझना चाहिये।

(११) उनका कुछ विधान अनेक जैन विद्वानोको अरुचिकर या अनिष्ट प्रतीत हो सकता है, फिर भी वह उनकी स्वतंत्र बुद्धिसे प्ररूपित नही हुआ है—उसका आधार भी उनके समक्ष रहा है। जैसे— सा ध. श्लोक ६-२२ व उसकी स्वो. टीकामे दूध-दही आदिके द्वारा जिनाभिषेक तथा मिट्टी, गोमय (गोबर) और भूतिपिण्ड आदिसे नीराजन। इसका आधार उनके समक्ष **उपासकाध्ययन**मे विस्तारसे प्ररूपित उस प्रकारका प्रसग रहा है। प्रकृत प्रसगके लिये यह श्लोक द्रष्टव्य है—

मृत्स्नपयेष्ठकयाष्ट वापि भस्मना गोमयेन च।
शौच तावत् प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत्॥

उपासकाध्ययन ४७०.

आगे इसी अभिप्रायका निदर्शक एक अन्य श्लोक ५३९ भी देखा जा सकता है।

सा. ध. के उपर्युक्त श्लोककी टीकामें आशाधरने उस उपासकाध्ययनके इस श्लोकको उद्धृत भी कर दिया है—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥ उपा. ५२९.

इस छह प्रकारकी देवसेवाका वर्णन वहा विस्तारसे इस प्रकार किया गया है-(१) प्रस्तावना श्लोक ५३०-३२, (२) पुराकर्म ५३३-३४, (३) स्थापना ५३५-३६, (४) सन्निधापन ५३६-३७, (५) पूजा ५३८-६० और पूजाफल ५६१-६३.)

इस प्रकारके जिनाभिषेक एव पूजाविधानादिकी पद्धति पूर्वमे प्राय: दक्षिणभारतमे अधिक रही है, पर वर्तमानमे वह उत्तर भारतमें भी बढ़ रही है ।

अनगारधर्मामृतके उत्तरभागभूत सागारधर्मामृतके मराठी टीकाकार कोल्हापुरनिवासी प. कल्लप्पा भरमप्पा निटवे रहे है । वे भी क्रियाकाण्ड प्रधानी रहना चाहिये । किन्तु उक्त श्लोक (६-२२) की टीकामें जो नीराजनाक्रियामे गोमयको ग्रहण किया गया है वह सम्भवत टीकाकार पं. निटवे महोदयको अनिष्ट रहा है, इसीलिये उन्होंने अपने मराठी अनुवादमें सा ध की टीकामे उपयुक्त 'गोमय'का अनुवाद नही किया है—उसकी उपेक्षा कर दी है ।

वसुनन्दीने अपने श्रावकाचारमे पूजा-प्रतिष्ठादि विधानका निरूपण किया है, पर सम्भवत. वैसा विवेचन वहा नही रहा होगा । उपर्युक्त पाक्षिक आदि श्रावकके तीन भेदोका भी उल्लेख वहा नही किया गया होगा । जहाँ तक मुझे स्मरण है, वसुनन्दी ने दर्शनिक आदि ग्यारह श्रावक पदोकी क्रमसे जहा श्रावकाचारकी प्ररूपणा की है । वर्तमानमे वह ग्रन्थ मेरे समक्ष नही है, अन्यथा मैं उसके विषयमे विशेष प्रकाश डाल सकता था ।

(१२) पूर्वोक्त पूजा-विधानादिको महत्त्व देनेवाले आशाधरकी जैन शासनपर आस्था व अडिग श्रद्धा रही है, ऐसा मै समझता हूँ । उन्होंने वन्दनाके प्रसंगमे संयत साधुको तो बात क्या, व्रती गृहस्थके लिये भी संयमसे विहीन माता-पिता, गुरु, राजा, कुलिंगी और राग-द्वेषसे कलुषित कुदेवोकी भी वन्दना करनेका निषेध किया है । यथा—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः ।
कुलिंगिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः तेऽपि संयतैः ॥

अन. ध. ८-५२.

(१३) उन्होंने चारित्रसे भ्रष्ट पण्डितो और भावविहीन निर्ग्रन्थों—जिन लिंगको धारण करते हुए भी जो मन्त्र-तंत्र, ज्योतिष एवं मठो आदिकी व्यवस्थामे संलग्न रहते है ऐसे आत्मकल्याणसे विमुख साधुओ-को भी जैन शासनको मलिन करने वाला घोषित किया है। यथा–

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

अन. ध. स्वो. टीकामे उद्धृत.

परिशिष्ट

पण्डित आशाधरने प्रायः अपने सब ही ग्रन्थों और टीकाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति दे दी है। उसमें पद्य प्रायः वे ही हैं, किन्तु कृतिके रचना-कालके अनुसार उनकी संख्यामें हीनाधिकता रही है व कुछ पद्य आगे पीछे भी लिखे गये हैं। अनगारधर्मामृतकी टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गई है वह अन्तिम है विक्रम सं० १३००। उसमें उनकी सब ही कृतियां समाविष्ट हैं। यहाँ हम उसीको उद्धृत कर रहे हैं। उससे पूर्व चर्चित विषयोंकी प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। वह इस प्रकार है—

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥१॥

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत्।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥२॥

व्याघ्रेरवालवरवंश-सरोजहंस.
काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु-
राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥३॥

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या।
प्रज्ञापुंजोऽसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥

---

१. श्लोक—सपादलक्ष नागौरके—आसपासका प्रदेश सवालख। शाकंभरी—सांभरझील। मण्डलकर दुर्ग—मेवाडके अन्तर्गत माण्डलगढ किला। श्रीरत्नी—आशाधरकी माताका नाम। व्याघ्रेरवालान्वय—बघेरवाल जाति। सल्लक्षण—पिताका नाम।

२. सरस्वती—पत्नीका नाम। छाहड—पुत्रका नाम। अर्जुनभूपति—तत्कालीन मालवाका राजा अर्जुनवर्मा।

३-४. उदयसेन मुनि—इन्होंने आशाधरके पास अध्ययन किया था। मदनकीर्ति मुनीन्द्र—इन्होंने भी आशाधरके पास अध्ययन किया था।

म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद् विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसा ।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमिति-वाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥

आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः ॥ ६ ॥

इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासन्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान् न कान्
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन् ।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीप पथि ग्राहिताः
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥ ९ ॥

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः
तर्कप्रबन्धो निरवद्यविद्यापीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥ १० ॥

सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥ ११ ॥

राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥

आदेशात् पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥

यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
व्यधत्तामरकोशे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १४ ॥

---

५ धारा पुरी—मालवाकी राजधानी। महावीर—आशाधरके गुरु।

७. बिल्हणकवीश—विन्ध्यवर्मा राजाका मन्त्री।

८. नलकच्छपुर नालछा।

१४. मूलाराधना (भगवती आराधना), आराधनासार, इष्टोपदेश व भूपालचतुर्विंशतिस्तवन तथा अमरकोश इनकी इनकी टीका।

रौद्रटस्य व्यधात् काव्यालंकारस्य निबन्धनम् ।
सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ।। १५ ।।
सनिबन्ध यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालंकृत व्यधात् ।। १६ ।।
योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधि मोह-तमोरविम् ।।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्र जिनेशिनाम् ।। १७ ।।
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्र वितनुते स्म यः ।। १८ ।।
आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तु वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ।। १९ ।।
सोऽहमाशाधरोऽकार्यं टीकामेता मुनिप्रियाम् ।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ।। २० ।।
शब्दे चार्थे च यत्किंचिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
छद्मस्थभावात् सशोध्य सूरयस्तत् पठन्त्विमाम् ।। २१ ।।
नलकच्छपुरे पौरपौरस्य परमार्हतः ।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायण. ।। २२ ।।
खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यंविनयादिमान् ।
साधुः पापाभिधः श्रीमानासीत् पापपराङ्मुखः ।। २३ ।।
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्य पितृभरक्षम ।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ।। २४ ।।
बहुदेवात्मजाश्चासन् हरदेवः स्फुरद्गुणः ।।
उदयो स्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकादृताः ।। २५ ।।
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ।। २६ ।।
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सुदोर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ।। २७ ।।
हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधतः ।
पण्डिताशाधरश्चक्रे टीका क्षोदक्षमामिमाम् ।। २८ ।।
विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेयाख्ययोदिता ।
द्विष्ठाप्याकल्पमेषास्ता चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ।। २९ ।।

---

१५. रौद्रट—मूल ग्रन्थ काव्यालंकारके रचयिताका नाम ।

प्रमारवंश-वार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसि स्थाम्नाऽवन्तीमवत्यलम् ॥ ३० ॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

विशेष—यह प्रशस्ति अनगारधर्मामृतके समक्ष न होनेसे 'जैन साहित्य और इतिहास'मे प्रकाशित स्व० प० नाथूराम प्रेमीके 'आशाधर' लेख (पृ० ३४२-५८) से ली गई है। प्रसग प्राप्त भौगोलिक और ऐतिहासिक शब्दोंके विषयमें विशेष जानकारीके लिये भी वह लेख देखा जा सकता है।

परिशिष्ट न. २

महापण्डित आशाधर

तेरहवीं शताब्दिके विद्वानोंमें महापंडित आशाधरजी अद्वितीय विद्वान हो गये हैं। उनकी कृति और कीर्तिको देखते हुए यह निश्चय होता है कि उस समयमे इनके समान उद्भट और सार्वविषयक विद्वान दूसरा कोई न था। यद्यपि ये गृहस्थ थे, फिर भी इनके धर्मोद्योतन, स्थितीकरण, अगाध-ज्ञान और उसके अपूर्व प्रभावको अनेक राजाओंके हृदयमें अंकित करने तथा उनके द्वारा महनीयता प्राप्त करने आदि कार्योंको देखकर उन्हें आचार्यकल्प कहनेमे बिल्कुल संकोच नही होता। महावीर भगवानके इस शासन-कालमे दूसरा कोई गृहस्थ जैन समाजमें आज तक भी इनके समान धर्मका प्रचार और इतना साहित्य-निर्माण करनेवाला हुआ हो, ऐसा हमको स्मरण नहीं होता। इन्होंने अपने जीवनकालमे अपने ज्ञानातिशयके द्वारा सैकड़ोंको सन्मार्गमें लगाया था और स्वयं उत्कृष्ट सदाचारका पालन कर अपनी आत्माके समान विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा आदि अनेक नरेशोंको राजनीतिको भी धार्मिकतासे उद्दीपित कर दिया था। विन्ध्यवर्माके सांधिविग्रहिक मंत्री महाकवि बिल्हण आशाधरजीकी विद्वत्तापर कितने मुग्ध थे और उनको अपने भाईके समान समझते थे, यह उनके उल्लेखसे ही स्पष्ट होता है। कुछ शिलालेख आदिके वाक्योंसे ऐसा भी अनुमान होता है कि महापडित आशाधरजीके पिता—सल्लक्षणको भी राजमान्यता कुछ कम न थी। उन्हे राजाका पद प्राप्त था। इसी प्रकार आशाधरजीके पुत्र छाहडके ऊपर भी महाराज अर्जुनवर्मा अत्यन्त प्रसन्न थे। यह बात अनगारधर्मामृतके अंतमें दी हुई प्रशस्तिमे ही स्पष्ट उल्लिखित है। इससे ऐसा निश्चय होता है कि आशाधरजीके वंशमें केवल आशाधरजीकी ही नहीं, किन्तु उनकी भूत-भविष्यतकी मिलाकर कई पीढियोंमें राजमान्यता निरवच्छिन्नरूपसे चली गई थी।

तत्सज्जातिके अग्रणी सेठ महीचन्द्र और सेठ हरदेव आदिने इनसे प्रार्थना की है, अनेक जैन-अजैन विद्वानोंने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, यति-पति मदनकीर्ति सरीखोंने इनको 'प्रज्ञापुंज' पद की भेट अर्पण की है, बिल्हण सरीखे महाकवि इनकी तुलनासे अपनेको धन्य समझते हैं, बाल-

सरस्वती मदन और वादीन्द्र विशालकीर्ति आदि बड़े-बड़े पदवीधर इनके शिष्य थे, भट्टारक देवभद्र और विनयभद्रादिक इनके कृतज्ञ थे, और सरस्वतीपुत्र यह जिनका सर्वमान्य पद था, उन पं० आशाधरजीकी प्रशस्त समाजमान्यता कितनी अधिक थी, यह सहज ही लक्ष्यमें आ सकता है। राजमान्यताके साथ-साथ ही समाजमान्यता भी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। सोमदेव सूरिने एक जगहपर कहा है कि—

प्रजाविलोपो नृपतीच्छया चेत्, प्रजेच्छया चाचरिते स्वनाशः।
न मंत्रिणां वेधविधायिनीवत्, सुखं सदैवोभयतः समस्ति।

अर्थात्—राजनीतिके ग्रन्थ वाचनेसे ही कोई राजनीतिका कार्य मंत्री आदिके पदको धारण नहीं कर सकता। यह कार्य अत्यन्त दुःशक्य है; क्योंकि वह राजा और प्रजा दोनोके मध्यमे रहा करता है। यदि वह राजाकी इच्छानुसार कार्य करे तो प्रजाका कोप होता है, और प्रजाकी इच्छानुसार करता है तो राजाके द्वारा उसका ही घात हो सकता है। अतएव चक्कीके पाटोके बीचमे लगी हुई उस कीलीके समान उस व्यक्तिकी अवस्था समझनी चाहिये कि जो जरा भारी होने पर ऊपरसे और जरा भी हलकी होने पर नीचेमे ठुका करती है। अस्तु। यह बात सिद्ध है कि महापण्डित आशाधरजी केवल ग्रन्थोंका प्रवचन करनेवाले सर्वोत्कृष्ट अध्येता और अध्यापक ही न थे, लोकदक्ष भी उतने ही ऊँचे दर्जेके थे। राजगुरुके भी गुरुका पद प्राप्त होना साधारण योग्यताका कार्य नही है।

महापडित आशाधरजीकी विद्वताको अनेक गुणोकी तरह सदाचार और संयमने भी विभूषित कर रक्खा था। सदाचारकी रक्षाका उन्हें कितना अधिक ध्यान था, यह बात उन्हींके उल्लेखसे विदित होती है, उन्होने स्वय इस बातका लिखा है कि हम तुर्कराज—यवनसम्राट गजनीके सहाबुद्दीन गौरीने जब हमारी जन्मभूमिपर आक्रमण कर लिया तब सदाचारके नष्ट होनेके भयसे ही उसको—जन्मभूमि—मण्डलगढ़को छोड़कर मालवाकी धारा नगरीमे आकर रहे, जिसके लिए लोक कहा करते हैं कि "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"। उस स्वर्गोपम अथवा माताके समान प्रिय—जन्मभूमिका केवल सदाचारके लिए परित्याग कर देना—एकमात्र दृढ़ धार्मिक निष्ठाका हो कार्य है। आगममे लिखा है कि यदि चारित्रमे क्षति पड़नेका प्रसग आवे, धार्मिक आचरण नष्ट होता हुआ दिखाई दे तो मनुष्यको चाहिये कि समाधिपूर्वक मरणको प्राप्त हो जाय, परन्तु चारित्रको भग्न न होने दे। क्योकि—

नावश्यंनाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥

किन्तु यह आज्ञा निरुपाय अवस्थाके लिए है, परन्तु जहां तक हो उसका उपाय करना चाहिये । जब कोई भी उपाय सफल होता हुआ दिखाई न दे तो सल्लेखना ही करना उचित है । तात्पर्य यह कि जिससे धर्माचरण सुरक्षित रहकर जीवन बच सके, ऐसा ही उपाय करना चाहिये । यदि धर्माचरण नष्ट होकर प्राण बचते हों तो वह उपाय धार्मिकोंको मान्य नहीं है । अतएव जब चारित्रमें क्षति पड़ती हुई दिखाई दी तो पं० आशाधरजीने जन्मभूमिमें रहना इस नीतिवाक्यके अनुसार धर्म और आत्मिक उन्नति तथा महत्ता प्राप्त करनेमें बाधक ही समझा कि—

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यं ।
संतोषो भीरुत्वं षड्व्याघाता महत्त्वस्य ॥

धारा नगरीको भी छोड़कर महापंडित आशाधरजी—अंतिम अवस्थामें नलकच्छपुरमें आकर रहे थे । इसका हेतु जिनधर्मका उदय करना लिखा है ।

यद्यपि जिनधर्मके उदयका अर्थ उसकी प्रभावना तथा अन्य धर्मात्माओंके हृदयमें उसकी दृढ़ता तथा उद्दीप्ति आदि कर देना भी हो सकता है परन्तु उनकी अवस्था और अनेक वाक्य बतलाते हैं कि जिस समयमें अनगारधर्मामृत की उन्होंने टीका आदिको रचना की है उस समयमे वे अवश्य ही गृहनिवृत्त होंगे, और केवल धर्मसेवन करनेके लिए ही वे नलकच्छपुरमे आकर रहे होंगे, क्योंकि जिस समय वे नलकच्छमें आकर रहे उस समय उनकी अवस्था वृद्ध थी । इस टीकाकी रचनाके समय उनकी अवस्था ७० वर्षसे कम न होगी, क्योंकि इनका जन्म—विक्रम सं० १२३० के करीब हुआ था और इस टीकाकी समाप्ति वि० सं० १३०० में हुई है, फिर उन्होने धारामें आनेके बाद मालवा राज्यकी पांच पीढ़ियाँ देख ली थीं । इसके सिवाय निम्नलिखित वाक्योंसे उनके वैराग्यपूर्ण परिणाम भी प्रकट होते हैं—

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः ।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥
सुखलालसया मोहात् भ्राम्यन्बहिरितस्ततः ।
सुखैकहेतोर्नामापि तव न ज्ञातवान् पुरा ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किंचिदुन्मुखः ।
अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥

अतएव अनुमान होता है कि इस टीकाकी रचनासे पूर्व ही वे गृहस्थाश्रमसे निवृत्त हो चुके होंगे। इसप्रकार महापण्डित आशाधरजीकी राजमान्यता, समाजमान्यता, कीर्ति, सदाचार और विरक्ति आदि गुणोंकी अविरुद्ध प्रवृत्तिको देखकर—आजकलके लोगोंको अनेक प्रकारकी शिक्षायें लेनी चाहिये। खासकर उन लोगोंको, जो राजमान्यता, कीर्ति या आजीविका आदिके लिए सदाचारके क्षयकी अपेक्षा नही रखते।

पं० आशाधरजीकी जाति, माता,पिता, पुत्र-कलत्र आदिका नाम, जन्मभूमि, अधिकतर निवासस्थान और उनकी उपाधि आदिका ज्ञान उन्हींकी प्रशस्ति तथा कृतिको देखनेसे हो सकता है। अतएव इस विषयमे अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है।

आशाधरजीकी विद्वत्ताका परिचय उनके ग्रन्थ ही दे रहे है। "न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन प्रतीयते"। अतएव न्याय, साहित्य, कोष, वैद्यक, आचार, अध्यात्म, पुराण और कर्मकाण्ड आदि प्रत्येक विषयके उनके बनाये हुए शब्दतः प्रौढ और अर्थतः गम्भीर अद्वितीय ग्रन्थोको देखनेसे ही मालूम हो सकता है कि वे वास्तवमे सरस्वतीपुत्र, प्रज्ञापुंज और कलिकालदास थे। इसके सिवाय उन्होने अपने ज्ञान और कवित्वको बेलगाम नही बना दिया था। उन्होने प्रत्येक विषयको लिखते समय गुरु और आगमकी आम्नायका ध्यान रक्खा है। इस ग्रंथमे भी उन्होने पद-पद पर पूर्व विद्वानो और ऋषियोके वाक्य उद्धृत किये है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि उनकी आत्मा आगमके विरुद्ध एक अक्षर लिखनेसे भी कापती थी और वे इस भयंकर पापसे अत्यन्त भीत थे। इस ग्रन्थके अन्तमे जो उन्होने श्रीशान्तिनाथ भगवानमे प्रार्थना की है कि "कविजन समीचीन विद्याके रसको प्रगट करनेवाली ही कविता किया करे" उसका उन्होने अक्षरशः पालन किया है और उसके द्वारा उन्होने आजकलके निरर्गल लेखनीके स्वामी तथा अपनी विद्यावानरीका घर-घर नर्तन करानेवालोके लिए आदर्श उपस्थित किया है।

यदि आशाधरजी विद्वानोके लिए भी दुर्बोध अपने ग्रंथोकी टीका स्वयं न बनाते तो सचमुचमे इस काल-रात्रिके अन्दर उनके अर्थका भान होना असम्भव नही तो दुःसाध्य अवश्य हो जाता। अतएव जिस प्रकार अपनी अजरामर कृति-कीर्तिके रूपमें आज भी हमारे सामने उपस्थित महापंडित आशाधरजीकी हमको पूजा करनी चाहिये उसीप्रकार जिन भव्यात्माओने प्रार्थना करके इन ग्रन्थोंको सन्निबद्ध कराया है उन सेठ

महीचन्द्र और सेठ हरदेव प्रभृतिके प्रति भी कृतज्ञतावश भक्तिपुष्पांजलि अर्पण करनी चाहिये।

पंडित आशाधरजीने जितने ग्रन्थ बनाये हैं उनमेसे अनेक ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थोंमेसे अनगारधर्मामृतकी टीका उनका अन्तिम ग्रंथ मालूम होता है। इसके बाद उन्होने कोई ग्रंथ बनाया या नही, सो निश्चित जाननेका कोई साधन नही है। अस्तु। इस ग्रंथकी महत्ता पाठकोंको वाचने पर स्वयं मालूम होगी। परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि इसका जैसा नाम है यह ठीक वैसा ही है। आगम-समुद्रका मंथन करके पंडित आशाधरजीने इस ग्रन्थके रूपमे मुनिधर्मरूपी अमृतकी ही सृष्टि की है।

यद्यपि इस ग्रन्थमे मुनिधर्मकी प्रधानतासे उसीका वर्णन किया है, परन्तु अन्तका कुछ भाग ऐसा भी है कि जिसमे गौणरूपसे षडावश्यक आदि श्रावकोंकी चर्याका भो वर्णन किया है। तथा आदिका कुछ भाग, जिसमे कि धर्मका फल बताया है और उसके बाद जहाँ पुण्यफलकी भी तुच्छता या निन्दा प्रकट की है वह भी श्रावकोंको जानना आवश्यक है। अतएव इससे केवल साधुओंको ही नही श्रावकोंको भी लाभ होगा ऐसा समझकर हमने इसको हिन्दी भाषामें अनुवादित किया है।

अमृतचन्द्र आचार्यने कहा है कि–'यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः। तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥

इसीके अनुसार पंडित आशाधरजीने धर्मामृत ग्रन्थकी रचना की। परन्तु उसकी टीकाका रचनाकाल उससे विपरीत है। अर्थात् सागारधर्मामृत जो कि इस ग्रन्थका उत्तरार्ध है उसकी टीका अनगारधर्मामृत पूर्वार्धकी टीकासे ४ वर्ष पहले बन चुकी थी। आशा है कि सहृदय मुमुक्षु विद्वान इससे लाभ उठायेंगे।

सोलापुर ता० १-६-१९२७ प्रार्थी—खूबचंद

---

१. यह परिचय वीर-निर्वाण संवत् २४८१, ई० १९२७ में श्री श्रुतभण्डार व ग्रन्थ-प्रकाशन समिति, फलटण (उत्तर सातारा) द्वारा प्रकाशित और विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री द्वारा अनूदित अनगारधर्मामृतकी प्रस्तावनासे उपयोगी समझकर सधन्यवाद दिया गया है।—प्रकाशक।